परिशिष्ट

आर्यावर्त

स्वामीजी की दृष्टि में इंद्रप्रस्थ पर युधिष्ठिर महाराज से लेकर यशपाल महाराज तक 4157 वर्ष 9 मास और 14 दिनों तक 124 पीढ़ियों ने शासन किया। दूसरे शब्दों में स्वामीजी की रूपरेखा वाले आर्यावर्त पर 124 राजाओं ने शासन किया। राजा युधिष्ठिर ने 36 वर्ष, 8 मास और 25 दिन, राजा परीक्षित ने 60 वर्ष, राजा जनमेजय ने 84 वर्ष 7 मास और 23 दिन राज्य किया। राजा यशपाल पर सुलतान शाहबुद्दीन गौरी ने चढ़ाई की। उन्हें प्रयाग के किले में 1249 में कैद किया और खुद इंद्रप्रस्थ पर शासन करने लगा।

आर्यसमाज के नियम

1. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

2. ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनंत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी चाहिए।

3. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

4. सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

5. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करना चाहिए।

6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

7. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

8. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

9. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट न रहना चाहिए, किंतु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

10. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतंत्र रहें।

स्वामी दयानंदजी की जीवन-यात्रा की प्रमुख तिथियाँ

1.	जन्म	सन् 1824 भाद्रपद कृष्णा 9, गुरुवार
2.	बोध	सन् 1837 शिवरात्रि टंकारा का शिवमंदिर
3.	गृह-त्याग	सन् 1846
4.	यात्राएँ	सन् 1846 से 1860 तक
5.	कुंभ दर्शन	सन् 1854 हरिद्वार में
6.	कानपुर-प्रयाग यात्रा-मिर्ज़ापुर	सन् 1855-56 तक
7.	नर्मदा की खोज	सन् 1857
8.	गुरु विरजानंद के आश्रम में	सन् 1860
9.	आगरा-प्रवास	सन् 1863 से 65 तक
10.	हरिद्वार का कुंभ दर्शन	सन् 1867
11.	काशी यात्रा	सन् 1869
12.	कलकत्ता यात्रा	सन् 1872
13.	बंबई यात्रा	सन् 1874
14.	अहमदाबाद	सन् 1874 के अंत में
15.	बंबई यात्रा	सन् 1875, आर्यसमाज की स्थापना
16.	लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना	सन् 1877
17.	'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन	सन् 1875
18.	पुणे यात्रा	सन् 1875
19.	काशी यात्रा	सन् 1876
20.	दिल्ली दरबार	सन् 1877
21.	लाहौर यात्रा	सन् 1877
22.	रुड़की यात्रा	सन् 1878
23.	वैदिक मंत्रालय की स्थापना	सन् 1880
24.	मेरठ यात्रा (छठी बार)	सन् 1880
25.	बंबई यात्रा	सन् 1881
26.	परोपकारिणी सभा का पुनर्गठन	सन् 1883
27.	महाप्रयाण	सन् 1883, दीपावली

संदर्भ-ग्रंथ

1. सत्यार्थप्रकाश — दयानंद सरस्वती, आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट
2. श्रीमद्दयानंद प्रकाश — स्वामी सत्यानंद
3. आत्मकथा — दयानंद सरस्वती
4. स्वामी दयानंद के पत्र एवं विज्ञापन — श्री भगवद्दत्त
5. आर्यसमाज का इतिहास — इंद्र विद्यावाचस्पति
6. स्वामी दयानंद की हिंदी सेवा — चंद्रभान सोनवले
7. दयानंद ग्रंथमाला

□□
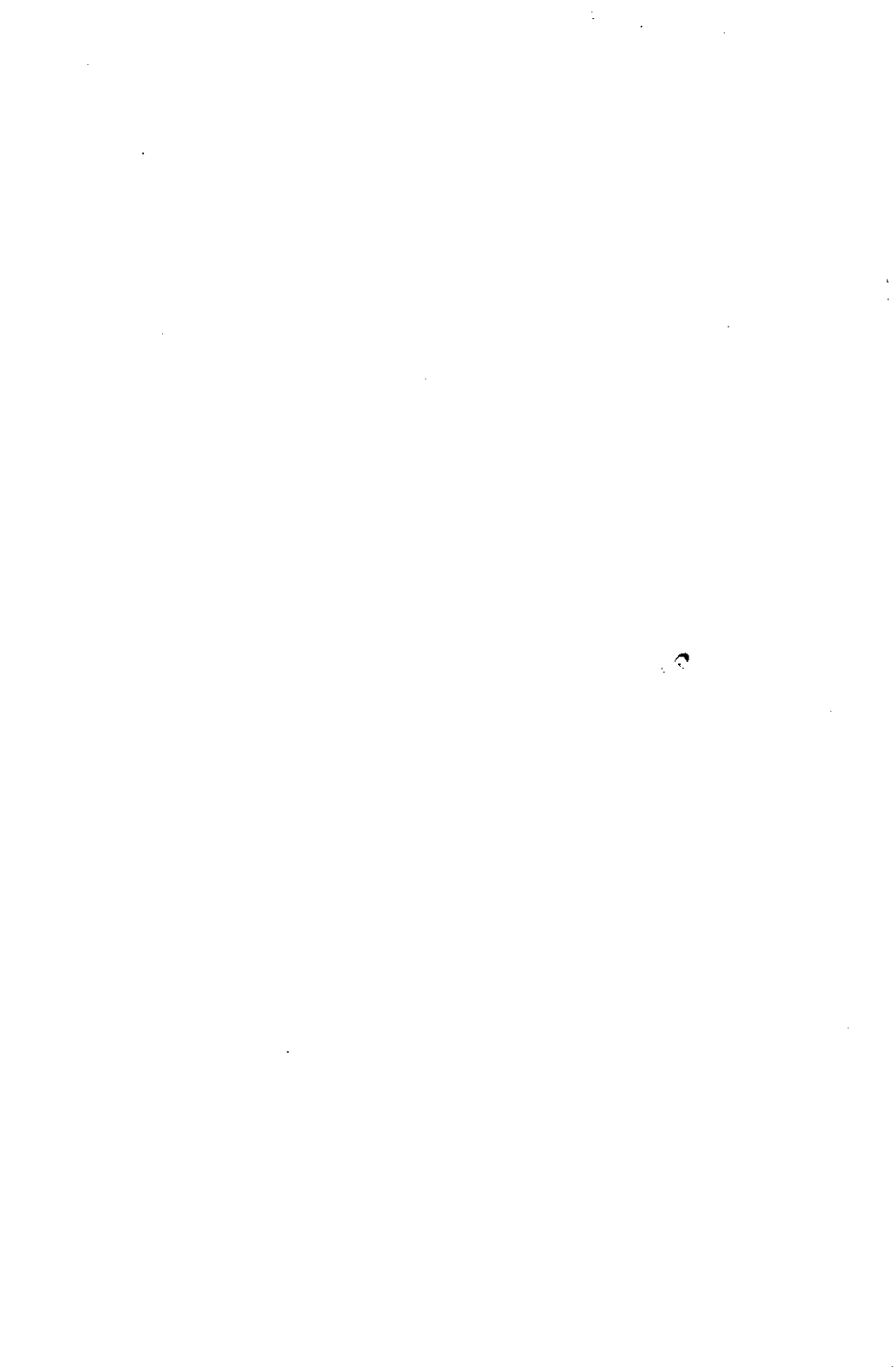
स्वामी दयानंद के जीवन पर आधारित औपन्यासिक कृति

शंखनाद

शंखनाद

डॉ० राज बुद्धिराजा

अपनी माँ शान्ति अग्निहोत्री के लिए

अपनी बात

1824-1883 तक का समय। गुजरात के टंकारा गाँव में एक शिशु का जन्म हुआ जो मूलशंकर, दयाराम, शुद्ध चैतन्य आदि नामों से गुज़रता हुआ दयानंद सरस्वती के विख्यात नाम तक पहुँचा। वैदिक एवं संस्कृत साहित्य का विधिवत् अध्ययन कर, आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर शिक्षाविद्, साहित्यकार और समाज-सुधारक रूप में सामाजिक-विकृत रूढ़ियों, अंधविश्वासों पर जमकर चोट की। उस समय धार्मिक मठाधीशों की पोल खोली और आर्यसमाज की स्थान-स्थान पर स्थापना की। असत्य को छोड़ने और सत्य को ग्रहण करने की प्रेरणा दी। एकबारगी उन्होंने अधार्मिक जड़ों को हिलाकर रख दिया। लगभग संपूर्ण भारत का भ्रमण कर जनमानस को नई दिशा दी, जगाने की कोशिश की। देश के राजाओं-महाराजाओं के मन में आर्यावर्त और आर्यभाषा के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की। स्वामी जी पर बहुत कुछ लिखा और कहा जा चुका है। फिर भी मैंने ही क्यों इनकी जीवनी लिखने की ठानी।

हुआ यूँ कि पिछले दिनों मुझे काकड़वाड़ी आर्यसमाज, मुंबई जाने का मौक़ा मिला। वह कुर्सी भी देखी जिस पर बैठकर वे विद्वानों-मनीषियों से बात किया करते थे। यज्ञशाला और चाँदी के पात्र भी देखे। उनकी हस्तलिपि भी देखी। समाज की मीटिंग के मिनिट्स वे अपने हाथ से ही लिखते थे। मैंने अब तक उनके जो चित्र देखे उन सबका मेरे जीवन पर गहरा असर हुआ था। हाथ में छड़ी, कोहनी मेज़ पर टिकाए, पगड़ी और दुशाला डाले, लकड़ी की खड़ाऊँ और गंभीर-शांत मुद्रा। लगता रहा कि जैसे अभी बोले कि बोले। कुछ ऐसा प्रहार करेंगे कि मैं हिल उठूँगी।

जिन दिनों मैं यजुर्वेद कंठस्थ करने की मुद्रा में थी, और पंडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के चरणों में बैठ 'अष्टाध्यायी' का अध्ययन कर रही थी, तो गुरुजी ने मुझे 'सत्यार्थप्रकाश' पढ़ने का आदेश दिया था। उस समय मैंने कई बार यह ग्रंथ खोला था और आधा-अधूरा पढ़कर छोड़ दिया था। मुझे लगा कि यह गुरु-गंभीर ग्रंथ मेरे वश के बाहर है। मैं कभी भी नहीं समझ पाऊँगी। पिछले साठ वर्ष के मेरे पारिवारिक संस्कार, पैंतीस वर्ष का हिंदी अध्यापन-अध्ययन, देश-विदेश के विद्वानों से विचार-विमर्श और विशेष रूप से हिंदी गद्य के विकास में स्वामी जी के योगदान की उपेक्षा ने मुझे फिर से 'सत्यार्थप्रकाश' का अध्ययन करने को बाध्य कर दिया।

आज के बदलते पारिवारिक मूल्य; बच्चों, किशारों, युवतियों-युवकों में फैली उच्छृंखलता और अनुशासनहीनता से मैं ग्रस्त रहने लगी। अपने साप्ताहिक स्तंभ 'हाशिये पर' में अपनी शैली से मीठी-मीठी चोटें करने लगी।

स्वामीजी का साहित्य विधिवत् पढ़ने के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि आज के हर वर्ग के लिए उनका साहित्य रामबाण है। उन्होंने पराधीन भारत को ललकारा था और आज स्वाधीन भारत के लोग दासता की ओर चले जा रहे हैं। राजनीति, धर्म, समाज और साहित्य में फैले भ्रष्टाचार को जड़ से उखाड़ने के लिए सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन हर मनुष्य के लिए परम आवश्यक है। मैं यह सोचकर काँप उठती हूँ कि स्वामीजी ने किस साहस के साथ बीहड़, वनों, पर्वतों की यात्रा की होगी और विरोधियों के चक्रव्यूह का भेदन किया होगा। मुझे लगा कि स्वामी जी बहुत दूर बैठे शंखनाद कर रहे हैं और वह आवाज़ मुझे झकझोरती चली जा रही है।

उनके गुरु-गंभीर दर्शन को तीन भागों में विभक्त किया है—1. जीवन-यात्रा, 2. साहित्यकार रूप, 3. समाज-सुधारक।

पुस्तक के अंत में परिशिष्ट रूप में आर्यसमाज के नियम, संदर्भ-ग्रंथ और आर्यावर्त पर राज्य करने वाले महत्त्वपूर्ण नाम।

मेरे लिए आपकी जीवनी को औपन्यासिक रूप देना दुष्कर कार्य था। फिर भी मुख्यतः मैंने दो ही पात्र लिए हैं—जिज्ञासु के रूप में वत्स और उत्तर देते स्वामी जी। कहीं-कहीं कुछ घटनाओं को भी मैंने कथा-सूत्र में पिरोने की कोशिश की है।

इस जीवनी को लिखने का उद्देश्य यही रहा कि हम सत्य को सत्य और असत्य को असत्य कहने का साहस जुटा सकें। यदि मेरा प्रयास किसी एक मन को भी उद्वेलित कर सका तो मैं अपना प्रयास सफल मानूँगी। सत्यार्थप्रकाश के पहले चार सामुल्लास तो हर व्यक्ति को कंठस्थ होने ही चाहिए। इसी आशा के साथ मैं कुछ शब्द, कुछ पंक्तियाँ, कुछ घटनाएँ, कुछ इतिहास और कुछ प्रश्न आप सबको सौंपती हूँ।

शायद कुछ प्रश्नों का उत्तर आपके पास होगा।

जी-233, प्रीत विहार
दिल्ली-110092

—राज बुद्धिराजा

अनुक्रम

शंखनाद

प्रारंभ

सन् 1824, भाद्रपद कृष्णा, तिथि नौ, बृहस्पतिवार। गुजरात प्रांत का काठियावाड़ संभाग, राज्य भोरवी (राजकोट) का एक छोटा-सा गाँव टंकारा। टंकारा का एक समृद्ध सनातनी परिवार, परिवार के मुखिया उच्च पदासीन बहीवटदार, कट्टर सनातनी औदिच्य ब्राह्मण, ब्राह्मण का नाम करसनजी लालजी तिवारी। इन्हीं के आँगन उक्त तिथि को एक बालक का जन्म हुआ, जिसे मूलजी (दयाराम) नाम दे दिया गया।

पुत्र-रत्न की प्राप्ति पर पूरा आँगन जगमगा उठा। मिठाइयाँ बाँटी गईं, गीत गाए गए। बाँहों के पालने में झुला-झुला लोरियाँ गाई गईं। अम्मा ने राई-नोन से नज़र उतारी और पड़ोस का पड़ोस जुट आया नेह का आशीर्वादी स्पर्श देने के लिए। बालक ने कभी आकाश निहारा, कभी धरती देखी, कभी घुटने-घुटने चला और कभी चाँद खिलौना लेने को मचला। कभी किसी पृष्ठाश्व के लिए मचला। उसका लालन-पालन लाड़-प्यार से हुआ, लेकिन पिता की अनुशासित दृष्टि हमेशा हावी रही।

बालक मूलशंकर को कभी स्कूल नहीं भेजा गया। उसकी प्रारंभिक शिक्षा पिता की देखरेख में घर पर ही हुई। संस्कृत के धर्मग्रंथों का पठन-पाठन कराया गया। उन दिनों बालकों को अपने कुल की परंपरा की शिक्षा प्रदान की जाती थी, इसलिए पिताजी ने उसमें पारिवारिक मर्यादा के संस्कार कूट-कूटकर भरे। बहुत-से धर्मग्रंथ और शास्त्रादि के श्लोक उसे कंठस्थ कराए गए। पाँचवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार कराया गया, यजुर्वेद संहिता का आरंभ कराके प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया। पिता शैव थे, इसलिए शैव मत की शिक्षा दी गई। सबसे बड़ी बात यह कि उसे गायत्री संध्या कंठस्थ कराई गई और विधि-विधानपूर्वक उसकी क्रिया भी कराई गई। देवनागरी अक्षरों का ज्ञान सबसे ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था। आज के युग में जब बालक-बालिकाएँ अनुशासनविहीन होकर तीन वर्ष की आयु से ही घमंडी, हठी और अशिष्ट होना शुरू कर देते हैं, उस आयु में उसे कठोर नियमों का पालन कराया गया। पिता चाहते थे कि उनका मूलशंकर विधि-विधानपूर्वक पूजा किया करे।

'कल से मूल मिट्टी का शिवलिंग बनाकर उसकी पूजा किया करेगा।' पिताजी ने एक दिन आदेश दिया।

'लेकिन यह कैसे हो सकता है ? वह तो सुबह-सवेरे भोजन कर लेता है !' माँ

कहा करतीं।

'वह भोजन नहीं करेगा, सिर्फ़ पूजा करेगा, जैसा कि मैं करता हूँ। परिवार के धार्मिक अनुष्ठान तो उसे करने ही पड़ेंगे।'

पिता के कठोर अनुशासन के सामने किसी की कुछ नहीं चली और मूलशंकर शास्त्रों के कंठस्थ करने, पूजा करने में लग गया। जैसा कि हम कह चुके हैं कि पिता कुल की रीति का निर्वाह करने पर बल दिया करते थे—

'उसे हर रोज़ हमारी तरह पूजा अवश्य करनी चाहिए, यही हमारे कुल की रीति है।' पिताजी कहा करते।

'व्याकरण कंठस्थ करो।'

'वेद पढ़ो।'

'रोज़ मंदिर जाया करो।'

मूलशंकर पिता की आज्ञा शिरोधार्य करता। वह उनके साथ मंदिर जाता, सत्संग करता और उनके मित्रों से सम्मानपूर्वक मिलता।

'कान खोलकर सुन लो तुम। शिवजी की उपासना ही श्रेष्ठ है, इसलिए वही किया करो।'

और मूलशंकर किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते यजुर्वेद की संपूर्ण संहिता का पाठ करते-करते, व्याकरण की शब्दरूपावलियों को कंठस्थ करते-करते और शिव-पूजा करते-करते वह पिताजी की दृष्टि में परिपक्व होता जा रहा था। वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ शिवजी का व्रत करता, विशेष रूप से शिवरात्रि पर। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि इस किशोर बालक को दयानंद बनाने में उसके पिताजी का बहुत बड़ा हाथ था। जाने-अनजाने उन्होंने अपने हाथों से पुत्र को गढ़ा, माँजा, चमकाया था। उसकी बाल्यावस्था और किशोरावस्था उसके लिए एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि थी। उसकी मानसिकता आगे चलकर उसे लौह-पुरुष बना सकी।

अब मैं अपने पाठकों को टंकारा के उस शिव-मंदिर में ले जा रही हूँ, जहाँ मूलशंकर को ज्ञान प्राप्त हुआ था।

सन् 1837, टंकारा का एक शिव-मंदिर। मंदिर में स्थापित शिव-मूर्ति। उपवास और शिव-स्तुति। रात्रि-जागरण।

'ओ३म् नमः शिवाय', 'ओ३म् नमः शिवाय' का भजन-कीर्तन चल रहा है। भक्तगण झूम-झूमकर, मस्ती में ताली बजा-बजाकर कीर्तन कर रहे हैं। शायद अभी शिवजी दर्शन देंगे, इसी आशा से शिवलिंग पर आस्थापूर्वक जल-दुग्ध, मिष्टान्न, फल, पुष्प अर्पित कर रहे हैं। श्रद्धा और भक्ति का वातावरण है चारों ओर। शिव-स्तुति की गूँज आकाश तक पहुँच रही है।

रात्रि बीतती चली जा रही है,लेकिन शिवजी हैं कि दर्शन देने का नाम ही नहीं लेते। भक्तों का उत्साह धीरे-धीरे कम हो रहा है। शिव-स्तुति का उच्च स्वर मद्धिम हो रहा है, धीरे-धीरे भक्तगण ऊँघने लगे हैं। श्रद्धा ऊँघ में परिवर्तित होती जा रही है। अन्य भक्तों के अलावा करसनजी लालजी तिवारी भी ऊँघने लगे हैं। कुछ लोग सो चुके हैं; लेकिन एक किशोर जाग रहा है, उसका नाम है मूलशंकर।

'सो जाने पर मुझे व्रत का फल नहीं मिलेगा।' वह सोचता है।

'मुझे शिवजी के दर्शन करने हैं। सो जाने पर नहीं होंगे।' उसका किशोर मन खुद से बातें करने लगता है।

'मुझे अपनी आँखों पर जल के छींटे मारने चाहिए, ताकि नींद भाग जाए।' नींद को भगाने के लिए वह ऐसा ही करता है। वह देखता है कि ऊँघते-ऊँघते उसके पिताजी भी निद्रादेवी की गोद में चले गए।

'लेकिन यह क्या ? सो जाने पर वे शिवजी के दर्शन कैसे करेंगे ?'

'यह कैसा निर्जल व्रत है !' पुजारी जी भी भक्तों के साथ सो गए। केवल मूलशंकर जाग रहा है। 'माँ के बार-बार मना करने पर भी पिता ने निर्जल व्रत के लिए क्यों विवश किया ?'

अचानक उसकी दृष्टि एक चुहिया पर पड़ी। वह मज़े-मज़े से फुदक-फुदक, कूद-कूदकर शिवलिंग पर चढ़ती, प्रसाद खाती, उतरती। पर यह क्या ? शिवजी उसे हटाते क्यों नहीं ? चुहिया उनके शरीर को कष्ट दे रही है। वे उसे भगाते क्यों नहीं ? बालक मूलशंकर सोचते-सोचते आगे निकल गया। उसके मन के आकाश पर तरह-तरह के बादल उमड़ने-घुमड़ने लगे। वह फिर से सोचने लगा।

'यह कौन-से सर्वशक्तिमान महादेव हैं जिनके शरीर पर साधारण-सी चुहिया उछल-उछलकर प्रसाद खा रही है। ऐसा नहीं हो सकता। यह तो मनुष्य है, देवता है या कुछ और।' बालक को कुछ भी नहीं सूझा। उसने एक बार और सोचा—'क्या यह डमरू बजाने वाला, नंदी बैल की सवारी करने वाला, श्राप देने वाला कैलासपति है या कोई और ?'

उसने घबराकर पिताजी को जगाया। शायद उसके पिता ही उसके प्रश्नों का उत्तर दे सकें। पर पिताजी क्रोध में पागल होकर बोले, 'क्या है ?' शायद उन्हें यह पसंद नहीं था कि उन्हें नींद से जगाया जाए। शायद वे भूल गए थे कि वे घर में नहीं, मंदिर में सो रहे थे—उस मंदिर में जहाँ वे अपने आराध्य महादेव की आराधना कर रहे थे।

मूलशंकर ने डरते-डरते कहा, 'पिताजी, आपने कैलासपति चेतन महादेव की कथा सुनाई थी। पर यह महादेव तो वह वाला महादेव नहीं है। इस पर तो चुहिया

चढ़ रही है।'

पिताजी ने खीझते-खीझते अपने पुत्र को समझाते हुए कहा, 'असली महादेव तो कैलास पर्वत पर रहते हैं। कलियुग में तो उस महादेव के दर्शन ही नहीं होते। इसलिए हम लोग उनकी मूर्ति बनाते, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर पूजा करते हैं। पाषाण की मूर्ति बना उसमें ही सच्चे शिव की कल्पना-पूजा से कैलासवासी शिव प्रसन्न हो जाते हैं।'

पिता आधी नींद में थे। वे फिर सो गए। मूलशंकर की समझ में कुछ आया और कुछ नहीं आया। उसे लगा कि पत्थर का शिव सच्चा शिव नहीं हो सकता, और सच्चा शिव यहाँ आ नहीं सकता। ऐसा क्यों ?

उसके 'क्यों' का उत्तर किसी के भी पास नहीं था। उसके पिताजी के पास, पुजारीजी के पास, मठाधीशों के पास और खुद उसके पास भी नहीं था। उसके हृदय में सच्चे शिव की तलाश का पहला अंकुर फूटा। उसे लगा कि उसे भूख लग रही है। ऐसे व्रत का कोई लाभ नहीं। पिताजी से कहा, 'अब मैं घर जाऊँगा।'

'जा। सिपाहियों को साथ लेकर चला जा। हाँ, याद रखना, घर जाकर खाना मत खाना।' पिता ने चेतावनी देते हुए कहा। 'हाँ' की मुद्रा में सिर हिलाते हुए वह घर की ओर चला। पिता के सिपाही उसके साथ-साथ चल रहे थे।

घर पहुँचते ही पहली बात जो माँ से कही, वह यह थी, 'माँ, मुझे बहुत भूख लगी है। कुछ खाने को दो।'

'मैंने तो पहले ही कहा था कि तुम भूखे नहीं रह सकते। पर तुम्हारे पिता की ज़िद के सामने एक नहीं चली मेरी।' उसके सिर पर हाथ फेरते हुए माँ ने उसे मिठाई खाने को दी। साथ ही यह भी कहा कि 'तुम पिता से यह मत कहना कि तुमने मिठाई खाई है। नहीं तो वे ताड़ना करेंगे।'

अगली सुबह पिता को मिठाई खाने की बात पता चल गई। उन्होंने खूब डाँटा-फटकारा और कहा, 'यह तुमने अच्छा नहीं किया। यह दंडनीय अपराध है। तुमने व्रत तोड़ा है।'

लेकिन तब तक मूलशंकर के भीतर का भय काफूर हो चुका था। उसके स्थान पर एक नई विचारधारा जाग्रत् हो चुकी थी। उसने आग्नेय पिता को एक बार देखा और दृढ़ता से कहा, 'यह कथा वाला महादेव नहीं है, इसलिए मैं पूजा नहीं करूँगा। मैं उस सच्चे शिव के दर्शन करूँगा जो कैलास पर्वत पर रहते हैं।'

इतना कहकर मूलशंकर पढ़ने के लिए भीतर चला गया। यह सुनकर पिताजी बहुत क्रुद्ध हुए। अपने बेटे के विद्रोह पर वे गुस्से से काँपने लगे। माँ और चाचा ने समझा-बुझाकर किसी तरह उन्हें शांत किया। अब उस घर में दो प्रकार की विचारधाराएँ अंदर-ही-अंदर फूटने लगीं। पिता इस बात से चिंतित थे कि कहीं बेटा

उनके हाथ से निकल न जाए और बेटे का हृदय शंखनाद कर रहा था। उसने कुछ निश्चय किया और उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। शायद इसी शंखनाद ने उसे भविष्य में दयानंद बना दिया। उस समय कौन जानता था कि पिता के घोर अनुशासन में पढ़-लिखकर मूलशंकर उन्नीसवीं सदी का एक प्रखर, जुझारू समाज-सुधारक बन पाखंड-खंडिनी पताका फहराएगा, सदी में फैली सामाजिक कुरीतियों पर कुठार-पाणि बनकर प्रहार करेगा, पाखंड-दंभ को जड़ से उखाड़ फेंकेगा।

किशोरावस्था में घटित शिवरात्रि ने मूलशंकर के मन में सुप्त विचारों को जाग्रत् किया। सच तो यह है कि इस किशोर ने न केवल बने-बनाए मार्ग का परित्याग कर एक नया मार्ग बनाया, बल्कि सच्चे शिव की खोज कर सत्य की खोज भी की। यह खोज 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के रूप में बहुचर्चित भी हुई। यह कहा जा सकता है कि इस अर्द्धरात्रि में यदि चुहिया शिवलिंग पर चढ़कर प्रसाद न खा रही होती तो शायद मूलशंकर के मन में सच्चे शिव-दर्शन की इच्छा जाग्रत् न हुई होती। मैं तो उस मंदिर के सामने नतमस्तक हूँ और धन्यवाद करती हूँ उस चुहिया का जिसने मूलशंकर के अंतर में तुमुलनाद किया। यदि तुमुलनाद न होता तो नारी-जागरण-काल न आता।

दिन-पर-दिन बीतते गए और मूलशंकर के मन में सच्चे शिव की तलाश की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ती गई। वह निरंतर अध्ययन और स्वतंत्र चिंतन में मग्न रहने लगा। वह कुछ-न-कुछ नया करने को आतुर रहने लगा। परंपरा से चली आ रही विचारधारा को उसने केवल इसलिए नहीं स्वीकारा कि वह उसके पिताजी द्वारा कही गई है। उसका मन जो कहता उसी को स्वीकारा जाता। शायद उसका मन इतना विद्रोही हो चुका था कि अनुत्तरित प्रश्नों के जाल से वह निकलना चाहता था।

'कहाँ खोजूँ इन सवालों के जवाब ?' वह सोचता।

'मंदिरों में, मूर्तियों में, तिलक-छापे में, गेरुए में, जंगलों में, नदियों में, पहाड़ों में ? कहाँ-कहाँ जाकर कौन-से गुरु का शिष्यत्व स्वीकारूँ और अपने उस कैलासपति शिव को खोजूँ ?' मूलशंकर का भ्रमित मन कुछ सोच रहा था और पूरा-का-पूरा समाज अपने-अपने भगवानों में मगन हो रहा था तथा मूलशंकर अपने भगवान् को तलाश रहा था, अपने चेतन शिव को।

उसका जिज्ञासु मन निघंटु, निरुक्त, पूर्वमीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन-मनन करने में जुट गया। उसके एक हाथ में शास्त्रोक्त ज्ञान और दूसरे हाथ में कर्मकांड का दीपक था। इन दोनों से उसके भीतर उषा का सवेरा होने को था कि उन्हें दुःख के दरिया में बार-बार डूबना-तिरना पड़ा।

पाँच भाई-बहनों में ज्येष्ठ मूलशंकर। उससे छोटी एक बहन, बहन से छोटा एक

भाई, उस भाई से छोटी एक बहन और उससे एक और छोटा भाई। उसका भाई-बहनों से लगाव था। तब मूलशंकर सोलह वर्ष का था और उसकी छोटी बहन चौदह वर्ष की। अचानक बहन को हैज़ा हुआ। वैद्यों को बुलाया गया, कोई लाभ नहीं हुआ और चार घंटों में ही बहन का शरीर छूट गया। परिवार और आस-पड़ोस के लोग फूट-फूटकर रोने लगे, विलाप करने लगे। मूलशंकर को गहरा आघात लगा और डर के मारे वह काँपने लगा। 'क्या मैं भी किसी दिन मर जाऊँगा ?' वह सोचने लगा—'क्या संसार के सभी लोग मर जाएँगे ? क्या एक भी आदमी नहीं बचेगा ? क्या संपूर्ण सृष्टि मृत्यु की गोद में समा जाएगी ?'

मूलशंकर का मृत्यु से पहला साक्षात्कार था। 'जो बहन कुछ देर पहले रोती-हँसती, खाती-पीती, चलती-फिरती, बातचीत करती थी, वह अचानक कहाँ चली गई ?' वह सोच रहा था।

'उठ मूलशंकर, उठ।' चाचा ने कहा।

'यह सब मिट्टी है अब।'

'मिट्टी नहीं, उसकी सभी इंद्रियाँ उसके पास हैं। वह बोलती क्यों नहीं ? ऐसी क्या चीज़ है जिसने उसे मृत कर दिया ? ऐसा कोई उपाय है जिससे मृत्यु से मुक्ति प्राप्त की जा सके ?'

संभवतः ऐसा कोई उपाय कोई नहीं जानता था। और मूलशंकर अपनी ही उलझनों में उलझता चला जा रहा था।

'चाचा, आप जानते हैं इस मृत्यु के कष्ट से छूटने के उपाय ?'

चाचा भी कुछ नहीं जानते थे। वे केवल कातर दृष्टि से उस किशोर को ताकते रहे। उस किशोर के भीतर इतना अंधड़-तूफान उठा था जो उसे हिलाकर रख गया था। वह पत्थर बन चुका था। जब माता-पिता और परिवारजन फूट-फूटकर रो रहे थे तब मूलशंकर अश्रुपात नहीं कर सका और न ही किसी से शोक प्रकट कर सका, कुटुंबियों की दृष्टि में निंदा का पात्र बन गया।

'कैसा पत्थर है ! बहन की मृत्यु पर एक आँसू भी नहीं बहा सका।'

'कौन-से शास्त्र में लिखा है कि मृत्यु पर शोक न करो ?'

'कैसा भाई है यह ?' आदि-आदि कई तरह के स्वर उसके कानों में पड़ते रहे। मूलशंकर था कि अपने ही प्रश्नों के जंगल में घूमता रहा। एक ओर संसार का अनंत ऐश्वर्य और दूसरी ओर उसे निगल जाने वाली मृत्यु की सहस्रों जिह्वाएँ। वह कुछ नहीं समझ सका। उसके सामने केवल एक ही सवाल मुँह बाए खड़ा था और वह था मृत्यु से मुक्ति।

मूलशंकर जैसे-जैसे किशोरावस्था का आँगन लाँघ युवावस्था के प्रवेश-द्वार की

ओर जा रहा था वैसे-वैसे उसकी छटपटाहट भी बढ़ती चली जा रही थी। वह उन्नीस वर्ष का हो चुका था। उस ज़माने में इस आयु तक पहुँचते-पहुँचते विवाह की बातें शुरू हो जाती थीं और परिवारजन गृहस्थ-प्रवेश की बातें शुरू करने लगते थे। विक्षुब्ध मूलशंकर को भी 'ठीक रास्ते' पर लाने के लिए विवाह का उचित खूँटा तलाशा जाने लगा। क्या ऐसा संभव हो सका ? शायद नहीं।

भगिनी की मृत्यु का घाव अभी भरा भी नहीं था कि मूलशंकर के परमप्रिय विद्वान् चाचा का निधन हो गया। पूरा परिवार शोक-सागर में डूब गया। मूलशंकर के कदम वैराग्य की ओर बढ़ने लगे। उसका मन घर से भाग जाने का हुआ। चाचा ही तो थे जो उसे प्यार के पालने में झुलाया करते। क्या इतने प्रिय और सरल व्यक्ति भी मृत्यु को प्राप्त होते हैं ? समस्या ज़्यादा गंभीर थी। दूसरी बार उसका मृत्यु से साक्षात्कार हुआ। विलाप के क्षणों में भी वह पाषाणवत् बैठा रहा।

'मैं मृत्यु से मुक्त होना चाहता हूँ। गृहस्थ में नहीं जाना चाहता।' मूलशंकर ने अपने मित्र से कहा।

'ऐसा असंभव है। सभी विवाह करते हैं।' मित्र ने कहा।

'पर मैं नहीं करूँगा। बँधी-बँधाई लकीर पर नहीं चलूँगा।' मूलशंकर ने कहा।

मित्र उसकी दृढ़ इच्छा-शक्ति से परिचित था। उसे डर था कि मूलशंकर घर छोड़कर भाग न जाए।

इधर माता-पिता मूलशंकर को विवाह में बाँधने की योजना बना रहे थे और उधर उसका युवक मन कुछ और सोच रहा था। वह घर छोड़ने की योजना बना रहा था। जब मित्रों से पता चला कि बीसवें में विवाह कर दिया जाएगा तो मूलशंकर ने निर्भय होकर पिताजी से कहा, 'मैं काशी जाकर ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रंथों का अध्ययन करना चाहता हूँ। वहाँ जाने की अनुमति दीजिए।'

'मैं कभी भी तुम्हें काशी नहीं भेजूँगा, यह बात तुम कान खोलकर सुन लो।' माता और अन्य कुटुंबी जनों ने भी उनकी हाँ में हाँ मिलाई। मूलशंकर अपनी बात मनवाने में लगा रहा और माता-पिता अपनी बात पर अड़े रहे। उन्होंने साफ़-साफ़ कहा, 'जो कुछ पढ़ना है, यहीं रहकर पढ़ो। अधिक पढ़कर क्या करना है ? जितना पढ़ा है वह बहुत है। हमें तो तुम्हारा विवाह करना है।' पिता के सामने उसकी एक नहीं चली। वह सोच में पड़ गया। एक तो अध्ययन में बाधा और दूसरा विवाह करना।

'हमें तुम्हें कहीं नहीं भेजना और अभी तुम्हारा विवाह करना है।' माँ ने कहा।

अब मूलशंकर ने टेढ़ी उँगली से घी निकालना चाहा। कोश गाँव में करसनजी की ज़मींदारी थी। वहाँ एक धुरंधर विद्वान् पंडित थे।

'आप कृपा करके मुझे गाँव के ही पंडितजी के पास भेज दीजिए।' मूलशंकर ने विनम्रता से कहा।

पिताजी ने सहर्ष स्वीकृति दे दी।

गाँव में मूलशंकर ज्योतिष और वैद्यक में डूब गया। समय-समय पर वह गाँव के लोगों से कहता रहा कि मैं विवाह नहीं करूँगा। पहले तो किसी को विश्वास नहीं हुआ, बाद में सभी आश्चर्यचकित हो जाते।

'कैसा पत्थर दिल है, स्त्री के संग की चाह नहीं।'

'कहने की बात है। जब अपनी पत्नी को देखेगा तो मोम बन जाएगा।'

ऐसी बातों का मूलशंकर पर कुछ भी असर नहीं हुआ। जब बार-बार वह अविवाहित रहने की बात करता तो बढ़ते-बढ़ते बात पिता के कानों तक जा पहुँची। परिणामस्वरूप माता-पिता ने उसे घर वापस बुला लिया और विवाह की तैयारी में जुट गए।

'अब बचकर कहाँ जाएगा बच्चू ?'

लेकिन बच्चू का मन कुछ और सोच रहा था। कहीं और मग्न था।

महीने-भर से विवाह की तैयारी चल रही थी। एक संपन्न गृहस्थ का घर लिपाई-पुताई से चमकने लगा था। बहू के लिए सुंदर-सुंदर बहुमूल्य आभूषण बनवाए-सजाए जा रहे थे। पिता बहुत प्रसन्न थे। खुशी के मारे माँ के पाँव ज़मीन पर नहीं पड़ते थे। वे सुशील बहू के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थीं। परिवार, कुटुंबी जन, पास-पड़ोस सभी विवाहोत्सव देखने को आतुर थे। पर मूलशंकर के चेहरे पर चिंता की गहरी रेखाएँ थीं। उसका मन उससे ज़ोरदार शब्दों में कह रहा था--

'उठ मूलशंकर, उठ। जाग, नींद तज, मृत्यु नामक महारोग की औषध ढूँढ़।'

और मूलशंकर अर्द्धरात्रि के समय सुविधा-संपन्न घर छोड़ मृत्यु की औषध ढूँढ़ने चल पड़ा। वह संवत् 1903 की रात्रि थी। उसके लिए प्रकाश-पर्व और माता-पिता के लिए अंधकार-पर्व।

यात्रा

रात्रि का गहन अंधकार।

छह फुटी चंदन-काया में निवास करने वाला वीतरागी मन तेज़ी से अपने गंतव्य की ओर बढ़ता चला जा रहा था। चैतन्य शिव की खोज, आत्मा की खोज और मृत्यु-कष्ट से मुक्ति के लिए मूलशंकर का मन बहुत व्यग्र था। अपनी इस व्यग्रता में उसने एक बार भी अपने अतीत में नहीं झाँका। न उसने पिता की व्यग्रता, माँ की आकुलता, विवाह-संबंधी फीके होते ठाट-बाटी रंग के बारे में सोचा और न ही अपनी पत्नी के बारे में। एक बार चलना शुरू किया तो सभी रास्ते उसे दिखाई देने लगे।

उधर माता-पिता पर वज्राघात हुआ। पिता भौंचक्के, माता जलविहीन मीन, बंधु-बांधव अवाक्। घर-बाहर का एक-एक कोना निस्तेज, शोक-सागर में डूबा-सा। पिता उसकी खोज में जुट गए। चारों ओर घुड़सवार और पैदल सैनिक भेज दिए गए। उन्होंने चप्पा-चप्पा छान मारा, परंतु कहीं भी उसका सुराग नहीं मिला। जहाँ-जहाँ भी उसके होने की संभावनाएँ हो सकती थीं, उसकी खोज की गई; पर निराशा हाथ लगी।

और मूलशंकर था कि टेढ़े-मेढ़े रास्तों पर चलता चला जा रहा था। सीधे-सीधे प्रसिद्ध रास्तों पर इसलिए नहीं चला कि कहीं उसको पहचान न लिया जाए और घर की ओर न ले जाया जाए। वैसे तो उसे घर के किसी सदस्य से लगाव नहीं था, वह पूरी तरह अनासक्त हो चुका था, लेकिन परम स्नेही चाचा की याद उसे बार-बार व्यथित करती, विशेष रूप से उनके अंतिम पलों की याद। उन्हें विशूचिका रोग हो गया था। मुमूर्षु दशा को प्राप्त होने से पहले चाचा ने मूलशंकर को अपनी शय्या के पास बुलाया। मूलशंकर क्लांत तन-मन से उनके पास बैठ गया। उसका चेहरा देख वह परम स्नेही अश्रुधारा बहाते रहे। उन्हें पता ही नहीं चला कि कितना समय हो गया। चाचा-भतीजा मिलकर देर तक रोते रहे। रोते-रोते मूलशंकर की आँखें सूज गईं। लगता था कि गंगा-यमुना का मिलन हो रहा हो। शायद यह चाचा का स्नेह रहा होगा और भतीजे की कृतज्ञता। रास्ते-भर वह यही सोचता रहा कि मुझे भी इस संसार से जाना होगा।

मूलशंकर याद करता है उन पलों को जब बार-बार उसने मित्रों, बांधवों और संबंधियों से मृत्य-विजय के उपाय पूछे थे और कोई भी 'यह तो शाश्वत सत्य है' से

ज़्यादा कुछ नहीं बता पाया था। यहाँ तक कि उसका परमप्रिय मुसलमान मित्र इब्राहीम खान भी कुछ नहीं कह सका था। 'मृत्यु तो सभी की होती है', कहकर चुप्पी साध गया था।

वह वनों, जंगलों तक जाना चाहता था, क्योंकि वहाँ जितेंद्रिय ऋषि-मुनि रहा करते थे। घर छोड़ने के बाद उसने गाँव के गाँव और शहर के शहर छोड़ दिए थे। पहला पड़ाव था चार कोस की दूरी पर और दूसरा पड़ाव था पंद्रह कोस की दूरी पर एक हनुमानजी का मंदिर। संसार की दृष्टि में निपट अकेले और अपनी दृष्टि में अपने चिंतन को साथ ले निरंतर चलता चला जा रहा था। पर उसे क्या पता था कि बीहड़ सुनसान रास्तों पर ऋषि-मुनि कम और ठग-चोर ज़्यादा रहते हैं। रात्रि के पहले प्रहर में विश्राम करना और दूसरे प्रहर में निरंतर चलते चले जाना—यही उसका नियम था। पंद्रह कोस चलना मूलशंकर के लिए आम बात थी।

चलते-चलते उसने किसी राजपुरुष से सुना कि करसनजी का युवा पुत्र घर छोड़ भाग निकला है और उसकी खोज के लिए सिपाही इधर-उधर गश्त लगा रहे हैं।

मूलशंकर छिपता-छिपाता लगातार चलता रहा। रास्ते में उसे एक झुंड मिला। उस झुंड के सभी लोगों ने गेरुआ बाना तथा काला तिलक धारण किया हुआ था। मूलशंकर ने उन्हें सच्चा साधु समझा था, पर ऐसा कुछ नहीं था। उनकी नज़र मूलशंकर की अँगूठियों और अन्य आभूषणों की तरफ़ थी। वे यह भी ताड़ गए कि यह युवक घर से भागकर आ गया है।

'ऐ लड़के, कहाँ से आते और कहाँ जाते हो ?'

'घर से भागकर आए हो क्या ?'

'लाओ, ये आभूषण हमें दे दो।'

'मैं घर से नहीं भागा हूँ। सच्चे शिव की तलाश में जा रहा हूँ।' मूलशंकर ने तत्काल उत्तर दिया।

'अरे, आभूषण पहनकर कहीं कोई शिव के दर्शन कर सकता है ? कभी नहीं।'

'लाओ, ये आभूषण हमें दे दो। इनका त्याग कर गेरुआ पहनो, छापा तिलक करो। तब कहीं जाकर तुम्हें शिव के दर्शन होंगे।'

उन चारों-पाँचों साधुओं ने मूलशंकर से सभी आभूषण उतरवा लिए। चलते-चलते मूलशंकर को एक ब्रह्मचारी मिला और साधु भी। ब्रह्मचारी ने कहा, 'तुम जो भी हो, ठीक हो। तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी बन जाओ।'

मूलशंकर को उस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा दी और उसका 'शुद्ध चैतन्य' नाम रखा। बहकावे में आकर गेरुआ भी धारण कर लिया। अपना पुराना नाम भूलकर गेरुआधारी उस शुद्ध चैतन्य की यात्रा दूसरे ढंग से शुरू हुई।

मेला सिद्धपुर का

अहमदाबाद के पास का एक छोटा-सा गाँव कोठगांगड़। शुद्ध चैतन्य वहाँ पहुँचे। उस गाँव में सिद्धपुर में लगने वाले मेले की चर्चा ज़ोरों पर थी। उन्होंने सुना कि सिद्धपुर में नामी विचारवान पंडित ब्रह्मज्ञानी ईश्वर-चर्चा करने के लिए इकट्ठा होने वाले हैं। शुद्ध चैतन्य के जिज्ञासु मन ने सोचा कि संभवतः किसी वीतरागी की कृपा से उनके भाग्य खुल जाएँ।

अब वे सिद्धपुर की ओर चल पड़े। रास्ते में उन्हें एक वैरागी के दर्शन प्राप्त हुए। उनके चेहरे पर उमड़ते स्नेह को देखकर शुद्ध चैतन्य ने गृह-त्याग और रास्ते के अनेक कष्टों का बखान किया।

'इस युवक का चेहरा जाना-पहचाना लगता है। आखिर यह कौन हो सकता है?' वैरागीजी ने अपने मस्तिष्क पर ज़ोर डाला, 'अरे, यह तो करसनजी का बेटा है !' उसके गृह-त्याग की कल्पना से ही वे काँप उठे। अपने स्थान पर जाकर उन्होंने पत्र द्वारा मूलशंकर के पिता को यह सूचना दी कि उनका प्रिय पुत्र सिद्धपुर में है।

कार्तिक मास का सिद्धपुर। ठिठुरन-भरे रात और दिन। तपस्वी संतों, साधुओं का जमावड़ा। उनके दर्शनार्थ आए सहस्रों जन, मुक्ति का उपाय ढूँढ़ते साधारण जन। वैराग्य के पक्के रंग में रँगे, धुन के धनी, सच्ची लगन में डूबे शुद्ध चैतन्य एक-एक कुटिया, एक-एक साधु के मनोद्वार पर दस्तक दे रहे थे। शायद किसी आसन-समक्ष नतमस्तक हो उन्हें कुछ प्राप्त हो जाए। ऐसा हुआ क्या ? शुद्ध चैतन्य के प्रश्न में मेरे मन का प्रश्न भी विलीन हो गया।

वैरागी का पत्र पाते ही चार सिपाहियों को साथ ले करसनजी सिद्धपुर की ओर चल पड़े। क्या वे अपने इस ज्येष्ठ पुत्र को क्षमा कर पाएँगे, जो विवाहोत्सव के समय उनकी लाज-मर्यादा की धज्जियाँ उड़ा घर छोड़ आया था ? वे प्रसन्न थे कि उनका खोया हुआ बेटा उन्हें शीघ्र मिल जाएगा, उसे फिर से 'साधने' की कोशिश की जाएगी।

करसनजी जब सिद्धपुर पहुँचे तो उस समय उनका पुत्र काषाय पहने साधु-संतों के साथ एक शिवालय में बैठा था। पुत्र को इस वस्त्राभरण में देख उनके क्रोध का पारा आसमान पर चढ़ गया। वे काँपते हुए बोले–

'तू हमारे कुल के लिए कलंक है । तू मातृहंता है ! तू इधर ढोंगी बन गेरुआ पहने है और उधर तेरी माँ रोग-शय्या पर पड़ी है, नालायक !'

पिता का रौद्र रूप देख शुद्ध चैतन्य की आँखें झरने लगीं। उन्होंने भीगे नयनों से पिताजी से कहा–

'मुझे क्षमा कर दीजिए। मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा। किसी के बहकावे में

आकर यहाँ चला आया था। मुझे अपनी करनी की सज़ा मिल चुकी है।'

पिता तब भी शांत नहीं हुए।

'मैं तो घर लौटने ही वाला था। अब मैं आपके साथ चलूँगा।'

पिता ने तब भी कुछ नहीं कहा। गुस्से में उसके गेरुए वस्त्र फाड़ दिए और सफेद वस्त्र पहना दिए। वे उसे अपने ठहरने के स्थान पर ले गए और उस पर कड़ा पहरा लगा दिया, क्योंकि वे अब भी अनिश्चय के सागर में डूब रहे थे। जिसने विश्व के विशाल प्रांगण में रहने का निश्चय कर लिया हो, क्या वह घर की चारदीवारी में लौटेगा ? जिसने सूक्ष्म स्नेह के, सूक्ष्म रेशम के बंधन चटखा दिए हों, क्या वह पहरेदारों के बंधन स्वीकारेगा ? शायद करसनजी उस समय नहीं सोच पा रहे थे कि इन प्रश्नों के उत्तर 'न' में हैं।

शुद्ध चैतन्य एक ओर पिता को स्नेह-डोरी में बाँधने की कोशिश करते रहे और दूसरी ओर यह योजना बनाते रहे कि अवसर मिलते ही यहाँ से कैसे भागा जाए।

वे पहरेदार भी कब तक जागते। जागते-जागते वे ऊँघने लगे और ऊँघते-ऊँघते प्रगाढ़ निद्रा में चले गए। चैतन्य ने सोचा कि भागने का यह अच्छा अवसर है। सिद्धपुर से आठ कोस की दूरी पर एक उद्यान। उद्यान में मंदिर और मंदिर का उच्च शिखर। यही शिखर उनके लिए एक रात्रि का आवास बना।

सुबह जब पिता की आँख खुली तो बेटा नदारद। उन्होंने एक बार फिर सिपाही दौड़ाए; पर कोई परिणाम नहीं निकला। थक-हारकर खाली हाथ वे अपने घर टंकारा चले गए। पिता-पुत्र की यह अंतिम भेंट थी। पिता के मन में घोर निराशा और पीड़ा तथा पुत्र के मन में आशा और सुख ! बुद्ध बनकर सिद्धार्थ एक बार घर लौटे थे; पर मूलशंकर नहीं लौटे। उन्हें लौटना ही नहीं था। कैसे तोड़ी होगी उन्होंने नेह की यह रेशमी डोर ?

गाँव-गाँव, डगर-डगर भटकते हुए चैतन्य बड़ौदा जा पहुँचे। उनके पास था उनका विशाल ज्ञान-भंडार, व्याकरण-सम्मत यजुर्वेद का पठन-पाठन और ब्रह्मचर्य की दीक्षा। चैतन्य की खोज में जा पहुँचे वे चैतन्य मठ, जहाँ के साधु-संन्यासी घुटे हुए वेदांती थी। चैतन्य पर उनकी संगत का इतना गहरा रंग चढ़ा कि वे भी 'स्व' के सिवाय संसार-भर को मिथ्या समझने लगे, खुद को ब्रह्म समझने लगे। वे सोचते, 'मैं ही ब्रह्म हूँ, कहीं और कुछ भी नहीं।' देखना यह है कि वे कब तक खुद को ब्रह्म समझने की भूल करते रहे।

संपूर्ण सांसारिक वासनाओं से मुक्त चैतन्य अपने हाथ का बनाया खाते, अध्ययन करते। 'पता नहीं कौन कैसे मन से पकाता है। अध्ययन करने में बाधा होती है।' भले ही उन्होंने वासनाओं को तज दिया था, खुद को ब्रह्म भी समझ लिया

था। क्यों उन्हें लोरी देने वाली माँ की याद कभी नहीं आई होगी ? टुकड़े-टुकड़े वस्त्राभूषण जोड़ती बहू देखने को तरसती व्याकुल माँ का चेहरा उनके सामने कभी नहीं आया होगा ? पिता द्वारा उसे 'मातृहंता' कहने पर उस युवक के मनाकाश पर स्नेह के बादल उमड़े-घुमड़े नहीं होंगे ? शायद हाँ। शायद नहीं। मेरी कलम तो आँखों के आबदार पिरोना जानती है।

संन्यास की ओर

इस प्रकार युवा चैतन्य की जीवन-यात्रा चलती रही। वे रसोई करते, शास्त्रों का गहन अध्ययन करते। इसी दौरान उनकी भेंट कुछ साधु-संन्यासियों से हुई। बड़ौदा की बनारसी बाई वैरागी और परमानंद परमहंस प्रमुख हैं। बाई से वे शास्त्रोक्त चर्चा किया करते थे, लेकिन वह उनसे परिहास करने लगी थी। 'मैं घर में रहकर किसी से परिहास नहीं करता, अब तो मैं घर तज चुका हूँ।' चैतन्य ने उस बाई से किसी तरह पीछा छुड़ाया। उन्होंने चिदाश्रम में साधु-संन्यासियों की संगत में रहकर वेदांत सार और तोटक वेदांत परिभाषा आदि पर गहन अध्ययन किया। वे अपने 'शुद्ध चैतन्य' नाम को ज़्यादा प्रचारित नहीं करना चाहते। 'कहीं पिताजी उन्हें फिर से घर की ओर न ले जाएँ।' ऐसा सोच उन्होंने संन्यास धारण करने का निश्चय किया। लेकिन इस उम्र में कौन संन्यासी उन्हें संन्यास-धर्म की दीक्षा देता। और एक बार चाणोद के पास के घने जंगल में बने एक घर में किसी दक्षिणी पंडित और ब्रह्मचारी ने उन्हें संन्यस्त बना दिया। अब उन्होंने गेरुआ धारण कर लिया। शुद्ध चैतन्य पंच द्राविड़ ब्रह्मचारी थे। संन्यास-दीक्षा और दंड ग्रहण करने के बाद उन्हें दयानंद सरस्वती नाम दिया गया। यह नाम एक ऐसा नाम था जिसमें दया और आनंद का संगम था। इसी नाम को धारण कर वे नवजागरण के पुरोधा, प्रबल समाज-सुधारक और उच्च कोटि के साहित्यकार बने। इसी नाम के चलते उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' की रचना की, आर्यसमाज की स्थापना की और सोई हुई जनता में शंखनाद फूँका। जैसा कि हमने लिखा कि स्वामीजी ने केवल गेरुआ धारण किया और दंड का विसर्जन कर दिया, क्योंकि उसके विधि-विधान में पड़ने से उनके कार्यक्षेत्र में कई तरह की बाधाएँ उपस्थित हो सकती थीं। इस प्रकार करसनजी के बालक के तीन नाम हुए। मूलशंकर या दयाराम जन्म का नाम, शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी का नाम और दयानंद संन्यासी का नाम। इस नाम को धारण करते ही, अपने संन्यस्त मन से जीवन-यात्रा की ओर निकल पड़े।

काणोद संन्यासी का व्यास आश्रम। यहीं रहकर स्वामीजी ने योग की शिक्षा ग्रहण की। गुरु का नाम था योगानंद सरस्वती। उन्होंने ज्वालानंद पुरी और शिवानंद

गिरि से दूधेश्वर महादेव में योग सीखा और एक कुशल अभ्यासी बन गए। उसके बाद आबूराज पर्वत और अर्बदा भवानी—इन स्थानों पर रहकर स्वामीजी ने योगादि विषयों पर गहरी खोज और अभ्यास किया। उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य नौ वर्ष योग सीखने में व्यतीत किए। घर छोड़ने से लेकर संवत् 1911 तक हरिद्वार में लगने वाले कुंभ मेले के लगने, संपन्न होने तक चंडी की पर्वतीय गुफाओं में तरह-तरह के कष्ट झेलकर स्वामीजी योगाभ्यास करते रहे। कुंभ मेले में स्वामीजी गए तो इसलिए थे कि साधु-संन्यासियों, योगाभ्यासियों से संभाषण करेंगे। पर वहाँ तो लाखों लोगों की भीड़ थी। मार भीड़, कोलाहल, स्नान, वस्त्र प्रक्षालन से हर की पौड़ी मैली हो चुकी थी और वे ऋषिकेश की ओर चले गए। कभी पैरों-पैरों चलकर, कभी योगाभ्यास कर, कभी योगियों-संन्यासियों से संभाषण कर स्वामीजी की जीवन-यात्रा कई पड़ावों पर रुक-रुककर आगे बढ़ती रही। यहाँ वे लाखों अज्ञानी श्रद्धालुओं को पंडों और धूर्त साधुओं द्वारा ठगे जाते देखते रहे। वे कुछ समय ठहरते, कुछ देखते, कुछ सीखते और अनासक्त भाव से आगे की ओर बढ़ जाते। हरिद्वार से ऋषिकेश और ऋषिकेश से टिहरी और टिहरी से नगाधिराज हिमालय की ओर। वही हिमालय जो महादेव शिव की निवास-स्थली है। उस शिव की निवास-स्थली, जिसकी खोज में उन्होंने अपना घर, माता-पिता, बंधु-बांधव और मित्र-समाज त्याग दिया था। अब तक उन्होंने उद्दाम यौवन को साध लिया था, इंद्रियों और मन पर अधिकार कर लिया था।

अब तक स्वामीजी ने किसी मत का खंडन नहीं किया था। वे निरंतर चलते रहे थे। ऋषिकेश की तुलना में टिहरी अधिक स्वच्छ और शांत। दूर-दूर फैले इक्के-दुक्के कच्चे-पक्के मकान, ऊबड़-खाबड़ पगडंडियाँ, वृक्षों की छाया तले कुटिया बना रहने वाले यति तपस्वी बस ! पहाड़ का यह प्रथम दर्शन था। दूर से दिखाई देतीं आकाशछूती पर्वतमालाएँ।

यहीं पर उनकी मुलाकात राजपंडितों से भी हुई। वे एक-दूसरे के प्रश्नोत्तरों से पूर्ण संतुष्ट हुए। यह वही स्थान है जहाँ पहली बार स्वामीजी का साक्षात्कार तंत्र-विद्या से हुआ।

एक राजपुरोहित ने स्वामीजी को अपने यहाँ भोजन के लिए निमंत्रित किया। ब्रह्मचारी सहित वे अपने मेज़बान के घर की ओर चले। वहाँ तो कुछ और ही दृश्य था।

घर के बाहर मांस और हड्डियों के टुकड़े, पशुओं के भुने हुए रुंड-मुंड ! पशुओं के सिरों पर चाकू-छुरी चलाते कुछ पंडित। दुर्गंधयुक्त वातावरण। स्वामीजी का क्षुब्ध मन।

वे उलटे पैर लौट आए। सीधे अपने स्थान पर आकर साँस ली। पीछे-पीछे

निमंत्रणदाता भी चला आया।

'आप लौट क्यों आए, स्वामीजी ? मैंने तो आपके लिए तरह-तरह के मांस के स्वादिष्ट पकवान बनवाए थे और साथ ही मदिरा का भी प्रबंध किया था।'

'मांस-मदिरा का सेवन मेरे लिए वर्जित है। मैं तो शाकाहारी-फलाहारी हूँ। यदि आपके पास फल हों तो भिजवा दीजिए।'

उनके लिए फल तो भिजवा दिए गए, पर बात अभी ख़त्म नहीं हुई थी। वह तो यहीं से शुरू होती है। वह राजपुरोहित स्वामीजी के पास रोज़ आने लगा और तंत्र-विद्या की बातें करने लगा।

'आपने तांत्रिक विद्या का अध्ययन किया है ?'

'नहीं।' दयानंद ने कहा।

'मैं आपके लिए कुछ पुस्तकें भेजूँगा।'

एक दिन वह पुरोहित पुस्तकों से लदा-फँदा आया और स्वामीजी के पास कुछ पुस्तकें छोड़ गया।

पुस्तक के एक पन्ने पर कुछ यूँ लिखा था—

'माता, भगिनी, कन्या, चूहड़ी, चमारी से संभोग करना धर्म है।'

'मद्य-मत्स्य-मांस आदि का सेवन परम धर्म है।'

'मुद्रा-मैथुन से मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

यह पहला अवसर था जब स्वामीजी के मन में इस प्रकार के धूर्त, स्वार्थी और दुष्ट लेखकों के प्रति विद्रोह उत्पन्न हुआ और उन्होंने निश्चय किया कि इस प्रकार के तंत्र-ग्रंथों और साधुओं के वेश में छिपे चांडालों के लिए कुठार-पाणि बनेंगे। जब वे टिहरी से केदारघाट के एक मंदिर में विराजे तो वहाँ के साधु-संन्यासी भी तंत्र-विद्या से अज्ञान स्वामीजी की खिल्ली उड़ाया करते। ऊपरी तौर पर वे लज्जित दिखाई पड़ते, लेकिन मन-ही-मन वे निश्चय कर चुके थे कि वे इन पाखंडों का खंडन करेंगे।

केदारघाट, रुद्रप्रयाग और फिर अगस्त्य मुनि का समाधि-स्थल, जिसके साथ लगा शिवपुरी पर्वत। यहाँ शीत ऋतु के चार मास व्यतीत करने पर उनके रोम-रोम में प्राकृतिक सौंदर्य रमने लगा। कल-कल करते सुंदर झरने, हिमाच्छादित पर्वत, पर्वतों पर सूर्य-किरण की रंग-बिरंगी रत्नजटित मुकुटमाला किस संवेदनशील हृदय को भाव-विभोर नहीं कर देंगी।

गुप्तकाशी, त्रिगुणी नारायण, गौरी कुंड, भीम गुफा आदि स्थान स्वामीजी की पर्वतीय यात्रा के महत्त्वपूर्ण पड़ाव हैं। उनकी यह प्रबल इच्छा थी कि तथाकथित पंडित-पुजारियों से दूर रहकर हिमाच्छादित शिखरों की यात्रा की जाए। वही हिमाच्छादित शिखर जहाँ तक पहुँचने के लिए छोटे-छोटे हिमखंड पाषाणों के अतिरिक्त कोई

पगडंडी भी नहीं है। अत्यंत कठिन और दुर्गम पहाड़ तथा सदी का प्रकोप। वे जानना चाहते थे कि शायद कहीं कोई सच्चा साधु किसी कंदरा में छिपा बैठा हो। तुंगनाथ पर पंडित-पुजारियों के सिवा उन्हें कोई सच्चा साधु नहीं मिला। उनकी तरह-तरह की लीला देख वे बहुत दुखी हुए। वहाँ सिर्फ मंदिर-मूर्तिगान था और कुछ नहीं। वैसा ही शिवरात्रि वाला गान जिसने उनके किशोर मन को गृह-त्याग के लिए प्रेरित किया था।

कहीं कोई रास्ता नहीं, सभी मार्ग बंद। जंगल, पहाड़ और सूखे हुए नाले। वृक्षों की टहनियों को पकड़-पकड़, लटक-लटक देखा कि आसपास कुछ भी नहीं है। न रास्ता, न पगडंडी। उधर अस्ताचल को जाता सूर्य और इधर अंधकार, जंगली जानवर, ठोकरें खाने का भय। वे भय से टटोल-टटोलकर रास्ता खोजने लगे। लेकिन ठोकरें खाने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगा। उनके वस्त्रों को काँटों ने छलनी कर दिया और उनका लौह-तन लहूलुहान हो गया। उन्होंने बहुत दूर कहीं आग देखी। सोचा, यहीं कहीं बस्ती होगी। अंधकार की उँगली पकड़ वे आगे-आगे बढ़ने लगे। वहाँ दो-चार लोगों से मुलाकात हुई। पता चला कि साथ वाली सड़क ऊखी मठ को जाती है।

अब तक उन्होंने टिहरी की तंत्र-विद्या ही जानी थी, अब वे मठाधीशों की 'लीला' भी जानना चाहते थे। उनके पैर अनायास ऊखी मठ की ओर बढ़ने लगे। रास्ता भयंकर। जब यात्री का मनोबल ऊँचा हो तो वहाँ हर तरह की विघ्न-बाधा टल जाती है। वे ऊखी मठ पहुँचे। वहाँ की पोप लीला और छोटे-बड़े कारनामों ने उन्हें हिलाकर रख दिया।

महंत ने उन्हें देखा, समझा और कहा, 'तुम हमारे चेले हो जाओ। जैसा हम कहें वैसा ही करो। हर तरह की संपत्ति तुम्हारी हो जाएगी। मेरे बाद इस मठ के महंत तुम्हीं बनोगे।'

दयानंद ने महंत को खरी-खोटी सुनाई, 'मैं महंत बनना नहीं चाहता। यदि मेरी यही कामना होती तो मैं माता-पिता, बंधु-बांधव, कुटुंब-परिवार कदापि नहीं छोड़ता। मैंने जिस चीज़ के लिए अपना घर तजा है वह आपके पास कदापि नहीं है।'

'ऐसी कौन-सी बात है जिसके लिए तुमने घर तज दिया है ?' महंतजी ने पूछा।

'मैं विद्या, योग, मुक्ति और अपनी आत्मा का पवित्र रूप देखना चाहता हूँ। क्या आप दिखा सकेंगे ?' स्वामीजी ने प्रश्न किया।

अनुत्तरित महंतजी उनसे इतना ही कह सके, 'तुम कुछ दिन तो इस मठ में रहो।'

स्वामीजी ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और अपनी राह खोजने के लिए प्रातःकाल जोशी मठ के लिए प्रस्थान किया। वहाँ बहुत से विद्वान् और साधु-संतों से उनकी भेंट हुई। उनसे वार्तालाप हुआ और ज्ञान-ध्यान की अनेक बातों से साक्षात्कार हुआ।

स्वामीजी एक बार फिर बद्रीनाथ गए। रावलजी अत्यंत विद्वान् महंत थे उस मंदिर के। कई दिन तक उन दोनों में वेदों और दर्शन-शास्त्रों पर वाद-विवाद होता रहा। स्वामीजी के मन में अनेक प्रश्न उमड़ने-घुमड़ने लगे। उनमें से एक प्रश्न ने उन्हें व्यथित कर दिया, जो इस प्रकार था, 'क्या इस पर्वत प्रदेश में कोई सच्चा विद्वान् और योगी भी है ?' महंतजी ने शोक प्रकट करते हुए केवल इतना कहा कि इस प्रदेश में सच्चा योगी कहीं नहीं है।

स्वामीजी ने एक और भीष्म प्रतिज्ञा कर ली कि वे समस्त राज्यों और पर्वत-प्रदेशों में घूम-घूमकर सच्चा योगी खोज निकालेंगे। उनकी यह खोज अगली सुबह सूर्योदय के साथ ही शुरू हो गई थी। एक के बाद एक पर्वतों की हिमाच्छादित उपत्यकाओं को लाँघते हुए वे अलकनंदा के तट पर जा पहुँचे। बर्फ़ीली ठंडी हवाएँ, घना जंगल और तीव्र धारा वाली वेगवती नदी। कभी वे नदी पार करने की सोचते और कभी नदी के साथ-साथ जाने का मन बनाते। अंततः नदी की गति के साथ-साथ नदी की ओर हो लिए। पर्वतीय मार्गों और ऊँचे-ऊँचे टीलों ने बर्फ़ के सफ़ेद वस्त्र धारण किए हुए थे। चारों ओर बर्फ़ ही बर्फ़। बर्फ़ के सिवा कुछ भी नहीं। उन्होंने देखा कि बर्फ़ ने सभी रास्ते बंद कर रखे हैं। उन्हें कोई भी रास्ता दिखाई नहीं दिया। लगातार चलते-चलते थकान और भूख का आक्रमण। नाममात्र के वस्त्रों से अपनी काया की उन्हें रक्षा भी करनी थी। वस्त्रों के अनुपात में सर्दी बहुत ज़्यादा थी, लेकिन उसे तो सहन करना ही था। उन्होंने बर्फ़ के छोटे-छोटे टुकड़े खाए। सोचा कि उससे भूख और प्यास दोनों का निवारण हो सकेगा। परंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। वे वैसे ही भूखे-प्यासे थे और सर्दी से ठिठुर रहे थे।

वे नदी में एक बार फिर से उतरे—थकान और भूख-प्यास को साथ लेकर। अलकनंदा बर्फ़ के छोटे-बड़े टुकड़ों से भरी हुई थी। चार से दस हाथ तक की गहराई। ठंडा जल और बर्फ़ के टुकड़े। इस भयंकर नदी को पार करते हुए स्वामीजी के बलिष्ठ शरीर में जगह-जगह घाव हो गए और रक्तस्राव होने लगा। हाथ-पैर इतने सुन्न हो गए कि वे बार-बार अचेतावस्था में पहुँच जाते। उन्होंने पूरी कोशिश की कि नदी के रौद्र रूप का सामना कर किसी तरह वे उस पार पहुँच जाएँ। ऐसा हुआ भी। वे सकुशल-समंगल अलकनंदा के पार पहुँच गए। तब तक वे पूर्णतः अशक्त हो चुके थे। उन्होंने जैसे-तैसे शरीर के ऊपरी भाग से वस्त्र उतार अपने पैरों और जंघाओं पर डाल लिए। अब वे उठने तक को भी अशक्त थे। वे इधर-उधर सहायता खोज रहे थे, पर निपट घने जंगल और बर्फ़ीले प्रदेश में कहाँ से मिलेगी सहायता ? अचानक उन्हें दो पुरुषाकृतियाँ दिखाई दीं। समीप आकर उन्होंने कहा, 'हमारा प्रणाम स्वीकार करें। आप हमारे घर चलिए, भोजन करिए और उसके बाद विश्राम। हम आपको

सिद्धपत्त नामक तीर्थ-स्थान पर भी ले चलेंगे।'

शिष्ट भाषा में अस्वीकार करते हुए स्वामीजी ने कहा, 'मुझमें चल पाने की शक्ति नहीं है। इसलिए मैं आपका निमंत्रण स्वीकर नहीं कर सकता।'

बहुत कुछ कहने-सुनने के बाद वे दोनों आकृतियाँ पर्वतों की कंदराओं में धीरे-धीरे विलीन हो गईं। धरती के बर्फ़ीले बिछौने पर उन्होंने विश्राम किया। शांत-स्निग्ध नीलाकाश को उन्होंने निहारा और मन-ही-मन वापस जाने की योजना बनाई। रास्ते में माना नाम का गाँव और गाँव के भोले-भाले लोग और अपने ज़ख़्मों की परवाह न करते हुए बद्रीनारायण की ओर लौटते दयानंद।

सुबह का चलता सूरज ढल चुका था और रात्रि के आठ बज चुके थे। रावल जी का घबराहट के मारे बुरा हाल था। इस जंगल में उस स्वामी को कहाँ ढूँढ़ा जाए।

स्वामीजी को देखते ही वे प्रसन्नता के सागर में डूब गए। फिर आत्मीयतापूर्वक पूछा, 'तुम कहाँ चले गए थे ?'

स्वामीजी की साहसपूर्ण कथा सुनकर वे विस्मित हुए। दोनों ने मिलकर भोजन किया। भोजन से स्वामीजी को शांति-शक्ति प्राप्त हुई। रात्रि के कुछ पल गहरी नींद में चले गए। अगली सुबह उन्होंने रावलजी से अगली यात्रा करने की अनुमति माँगी। वे उन्हें कह भी क्या सकते थे ! किसी यात्री को कभी कोई रोक पाया है क्या ? उन्होंने अश्रुपूरित नेत्रों से स्वामीजी को विदा किया, उनके सुखद-सुमंगल भविष्य की कामना की। वे तब तक टकटकी बाँधे स्वामीजी को देखते रहे जब तक वे उनकी आँखों से ओझल न हो गए।

'अब रामपुर चला जाए।' स्वामीजी उसी दिशा चल पड़े। कैसा था यह अद्भुत यात्री जो मुसीबतों, आपदाओं की भयंकर नदी लाँघता रहा और अपने गंतव्य की ओर बढ़ता रहा। कई घाटियों और पर्वतों को पार करने के बाद दयानंद चिलका घाटी पहुँचे और वहाँ से रामपुर। रामपुर में उनकी भेंट एक योगी से हुई। उनके साथ गंभीर और दार्शनिक विचारों का आदान-प्रदान होता, योग-विषयक चर्चाएँ होतीं। उन योगी का विचित्र स्वभाव था। वे दिन में बातचीत करते, रात्रि को चीखते-चिल्लाते। दयानंद जी को पता चल गया कि वह योगी बहुत दूर है योग-विद्या से। फिर वहाँ से काशीपुर और काशीपुर से द्रोण-सागर की ओर प्रस्थान।

द्रोण-सागर की शरद् ऋतु ! कभी ध्यानस्थ होते और कभी अध्ययन करते स्वामीजी एक ऊहात्मक स्थिति से गुज़र रहे थे। उनकी बलवती इच्छा हुई कि 'हिमालय पर्वत पर जाकर देह-त्याग करना चाहिए।' लेकिन दूसरी बार वे सोचते कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् ही यह कर्म करना चाहिए। दूसरे विचार ने पहले वाले पर विजय प्राप्त कर ली और वे संभल, मुरादाबाद तथा गढ़मुक्तेश्वर होते हुए पुनः

गंगातट पर जा विराजे। उनके पास कुछ धार्मिक पुस्तकें थीं, जिनमें शिव संध्या, हठयोग प्रदीपिका थीं। यात्रा के दौरान वे इनका अध्ययन किया करते।

कुछ पुस्तकों का केंद्रबिंदु नाड़ी-चक्र था। यह विषय बहुत गंभीर था। वह कभी समझ में आता और कभी नहीं।

'मैं बहुत थक गया हूँ।' दयानंद सोचते।

'मैं इन्हें कभी भी समझ नहीं पाऊँगा।'

'पता नहीं यह चक्र-विद्या सत्य भी है या नहीं।'

'मेरा संशय कभी दूर नहीं होगा।'

इस तरह के कई प्रश्न दयानंद के मन में उमड़ते-घुमड़ते, पर उनका उत्तर देने वाला कोई नहीं था, सिवा उनके मन के। उस समय उनके मन के पास भी कोई उत्तर नहीं था।

शव-परीक्षण

नाड़ी-चक्र पर विचारार्थ वे कभी गंगातट पर जा बैठते और कभी गंगा की बालू पर जाकर ध्यानस्थ हो जाते। एक बार उन्होंने गंगा में एक शव बहता देखा, वे बहुत प्रसन्न हुए।

'इस शव का परीक्षण करना चाहिए। उन पुस्तकों में लिखी बातें सत्य हैं या नहीं—अभी पता चल जाएगा।'

उन्होंने वे पुस्तकें तट पर रखीं और गंगा में कूद पड़े। शव को गंगातट पर ले आए। वे कभी पुस्तकें पढ़ते और कभी शव को देखते। तेज़ धार वाले चाकू से उन्होंने शव को काटना शुरू किया और सावधानी से हृदय को बाहर निकाल लिया। बाद में सिर-ग्रीवा के सूक्ष्म अंगों को काट निकाला। बहुत ध्यानपूर्वक उन्होंने हृदय और अन्य नाड़ियों का परीक्षण किया। पुस्तकों में वर्णित इन अंगों और शव में देखे गए अंग-अंग में किसी प्रकार की भी समानता नहीं थी।

'यह क्या हो रहा है मुझे ? कुछ भी तो मिलता-जुलता नहीं है।'

उन्होंने पुस्तकों के पन्ने फाड़-फाड़कर गंगा नदी में बहा दिए और साथ ही शव के उन अंगों को भी नदी में फेंक दिया जिनका परीक्षण किया गया था। उस समय उनकी स्थिति ज़रूर स्थितप्रज्ञीय रही होगी, तभी उन्होंने शव का परीक्षण किया होगा असंपृक्त रहकर।

'केवल वेद, उपनिषद्, पातंजल और सांख्य-शास्त्र ही सत्य हैं। अन्य ज्ञान-विज्ञान की मूर्खतापूर्ण पुस्तकें मिथ्या, असत्य और अशुद्ध हैं।'

'इनका अध्ययन भी मिथ्या है। ज़रूर किसी पोंगापंथी ने इनकी रचना की

होगी।'

यह उनके हृदय-शंख का पहला नाद था जो हिमालय की एक वर्ष की यात्रा के बाद का निर्णय था, जो संवत् 1912 और सन् 1855 में लिया गया था।

हिमालय के दुर्गम, अगम्य, संकटीय, कष्टप्रद रास्तों पर भटकने के बाद उन्हें वह प्राप्त नहीं हुआ जिसकी उन्हें चाह थी। इन कंदराओं में उनके तन-मन पर गहरे आघात हुए। हर तरफ़ पोपलीला, साधुओं के वेश में पनपता भ्रष्टाचार, मांसाहार, मैथुन दंभ, मिथ्या अहंकार, तंत्र-मंत्र और ढेर सारे लुभावने पाखंड। उसमें भटकती भोली-भाली जनता। हिमालय पर्वत पर भी उन्हें चैतन्य शिव के दर्शन नहीं हुए। तो कहाँ रहते होंगे वे शिव, जिनकी अस्मिता की उन्हें चाह थी ? न चैतन्य, न सत्य और न ही सच्चा योगी।

दयानंद इन सबकी तलाश में अपने लिए खुद रास्ता बनाते-बनाते कभी थककर आत्महत्या की बात सोचते और कभी निरंतर चलने की बात सोचते, क्योंकि चलते रहने के सिवा और कोई चारा नहीं था।

कहीं रीछ, कहीं भालू, कहीं शेर और कहीं पर्णकुटीवासी। यदि मन निर्मल हो तो ये हिंस्र पशु भी अपनी हिंसा तज सीधी राह पर चलने लगते हैं—स्वामीजी ने निर्णय किया, अनुभव किया। इस तरह वर्ष समाप्त हो गया, लेकिन उनकी यात्रा नैरंतर्य धारण किए रही। स्वामीजी को वहाँ पहुँचना था, जिसके लिए उन्होंने घर-बार का त्याग किया था।

काशी-प्रवास

कानपुर, मिर्ज़ापुर होते हुए काशी की ओर प्रस्थान। 1913 की असूज सुदी 2। जब वे दुर्गाकुंड के मंदिर पहुँचे। यहाँ के प्रवास में उन्होंने चावल आदि अन्न का पूर्णतः त्याग कर दिया, दुग्धाहारी रहकर दिन-रात योग-विद्या का अभ्यास करने लगे। वे अपनी आत्मिक क्षुधा को शांत करने के लिए उसके अनुरूप भोजन तलाशने लगे। तन की क्षुधा उनके सामने कुछ भी नहीं थी। मन तो मन है, कभी भटकता और कभी सीधे रास्ते पर चलता है। कठिन रास्तों पर चलते-चलते स्वामीजी को अचानक एक दुर्व्यसन लग गया था और वह था भाँग पीने का। भाँग पीने के बाद वे अचेत हो जाते।

एक बार वे मंदिर से निकल पास के शिवालय में पहुँचे। थके हुए तो थे ही, वे सो गए। सपने में उन्होंने शिव-पार्वती को देखा जो उनके बारे में ही बातचीत कर रहे थे।

'अच्छा होता, यदि दयानंद विवाह कर लेता।' पार्वती ने शिव से कहा।

लेकिन शिवजी ने कहा, 'नहीं। उसने इतनी साधना की है।'

'फिर वह भाँग क्यों पीता है ?'

इससे पहले कि शिवजी पार्वती की बात का उत्तर देते, दयानंद की नींद खुल गई। उन्होंने खुद को खूब धिक्कारा और रोष प्रकट किया। मन-ही-मन निर्णय किया कि वे भाँग नहीं पिएँगे।

वरुणा और गंगा के संगम-स्थल के पास वाली गुफ़ा में स्वामीजी ने एक अँधेरी गुफ़ा को अपना निवास बनाया। लेकिन उनका मन नहीं लगा और वे नर्मदा के उद्‌गम स्रोत की ओर चल पड़े।

1914 का चैत्र मास। स्वामीजी ने वहाँ तक पहुँचने के लिए किसी से भी रास्ता नहीं पूछा। उजाड़ निर्जन वन और पर्वत ही पर्वत। उजाड़ और धूलि-धूसरित झोंपड़ियाँ और आबादी का कोई नामोनिशान नहीं। एक झोंपड़ी में किसी वृद्धा के यहाँ जाकर स्वामीजी ने दुग्धपान किया और आगे की ओर बढ़ चले। आगे कुछ नहीं था सिवाय अलग-अलग जाने वाली पगडंडियों के। उन्होंने अपनी इच्छा से एक पगडंडी चुनी और कोस भर चलने के बाद एक निर्जन वन में पहुँच गए। वहाँ बेरियों के झाड़, लंबी-लंबी घास। यहीं उनका मुकाबला एक रीछ से हुआ जो उन पर झपटा। उसे न जाने क्या सूझा और वापस चला गया। उसकी चिंघाड़ से आसपास चौंक गया। कुछ लोग शिकारी कुत्तों को साथ लेकर उनकी रक्षार्थ आए। उन्होंने आगे के ख़तरों से आगाह किया और कहा, 'आगे जाना ख़तरे से खाली नहीं है। यहाँ जंगली जानवर बहुत हैं। आप हमारे साथ चलिए।'

'मुझे शेर, हाथी आदि का कोई भय नहीं है। मैं किसी तरह नर्मदा के दर्शन करना चाहता हूँ।'

कैसा होगा वह दयानंद जिसने 'सत्यार्थप्रकाश' लिखने से पहले प्रकृति के सौम्य-रौद्र रूप के दर्शन किए। उनका मनोबल इतना ज़्यादा था कि वे अंधकार को चीरते हुए यात्रा करने लगे। उन्हें दूर-दूर तक कोई आदमी नहीं दिखाई दिया। वृक्षों के नाम पर भी वृक्ष और इनसानों के नाम पर भी वृक्ष। वे एक घने जंगल में प्रवेश करना चाहते थे, लेकिन काँटेदार बेरियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार सटी थीं कि उन्हें अलग कर वन में प्रवेश करना असंभव था। लेकिन पेट के बल लेटकर जानू के सहारे सर्पवत् रेंगते हुए वह दुर्गम बाधा दूर की। उनका शरीर स्थान-स्थान पर लहूलुहान हो गया और छिल गया, लेकिन उन्होंने उस पीड़ा को सहन कर लिया। मृत्यु-पीड़ा से मुक्ति के सामने यह पीड़ा तो कुछ भी नहीं थी। अंधकार के सिवा स्वामीजी को कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था। लेकिन वह आशावान थे कि शायद इस घने अंधकार में कुछ सुझाई दे जाए। पग-पग पर भयानक रास्ते। वे ऊँचे-ऊचे पहाड़ों के पास पहुँचे,

जहाँ से कोई रास्ता आगे नहीं जाता था। वहाँ पर ओषधियों-वनस्पतियों की सुगंध से उन्होंने अनुमान लगाया कि यहाँ आसपास ही कोई-न-कोई बस्ती ज़रूर होगी।

उस अंधकारपूर्ण वातावरण में कैसे देख पाया होगा आसपास की बस्तियाँ ! झोंपड़ियों और कुटियाओं के इर्द-गिर्द गोबर-उपलों के ढेर। स्वच्छ जल वाली एक छोटी-सी नदी, नदी तीरे चरती हुई बकरियाँ। टूटी-फूटी झोंपड़ियों की दरारों-दरवाज़ों से छनकर आता प्रकाश। यह कहना कल्पनातीत है। स्वामीजी उस विशाल वृक्ष के नीचे बैठ गए जिसने एक छोटी-सी झोंपड़ी को अपनी बाँहों में भर रखा था। प्रातः नदी में स्वामीजी ने अपने क्षत-विक्षत हाथ-पाँव और धूलि-धूसरित शरीर को स्वच्छ किया तो उन्हें अचानक ही कोई गर्जना सुनाई पड़ी। स्त्री-पुरुष-बालकों का एक समूह था वह। शायद किसी धार्मिक अनुष्ठान को पूरा करने के पश्चात् लौट रहा हो।

उन्हें अनजान-अजनबी देखकर एक वृद्ध ने उनसे पूछा, 'आप कौन हैं और कहाँ से आए हैं ?'

'मैं काशी से आया हूँ और नर्मदा-स्रोत की ओर जा रहा हूँ।' स्वामीजी ने कहा। वे अपनी उपासना में निमग्न हो गए।

एकाध घंटे बाद दो-तीन पर्वतीय पुरुष उन्हें अपने यहाँ चलने का निमंत्रण देने आए; लेकिन स्वामीजी ने निमंत्रण अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे मूर्तिपूजक थे। वे किसी भी तरह की मूर्तिपूजा को स्वीकार करने वाले नहीं थे। मूर्तिपूजा का विरोध उनका दूसरा शंखनाद था। शिवरात्रि की घटना उनके सामने आ खड़ी हुई। पर्वतीय पुरुषों ने दो आदमियों को रात-भर आग जलाने का आदेश दिया और कहा कि इनकी रात-भर सुरक्षा करते रहो। जब उनसे भोजन के लिए पूछा गया तो उन्हें मालूम पड़ा कि स्वामीजी केवल दूध पीते हैं। उनका तुंबा ले घर से दूध ले आए। स्वामीजी थक चुके थे। वे गहरी नींद में सोए और अगली सुबह वे अपनी यात्रा के लिए चल पड़े।

ऐसा लगता है कि स्वामीजी नर्मदा की यात्रा के बाद लौटे होंगे। कई तीर्थों का दर्शन किया होगा। काशी लौटे होंगे और गुरु विरजानंदजी की कीर्ति सुनी होगी और उनकी शरण में मथुरा पहुँचे होंगे। इस प्रकार स्वामीजी ने पर्वतों, शिखरों, कंदराओं, नदियों और बर्फ़ों के कष्ट को सहन करते हुए तीन वर्ष बिता दिए होंगे और बाद में अपनी दुनिया में धूनी रमाते विरजानंद के पास पहुँचे होंगे।

विरजानंद की शरण में

अब मैं अपने पाठकों को विरजानंदजी के आश्रम में लिए चलती हूँ, जहाँ जाकर दयानंद ने सच्चे गुरु से ढेर सारा ज्ञान अर्जित कर पाखंड-खंडिनी पताका फहराई।

पंजाब का एक गाँव कर्तारपुर, कर्तारपुर के पास कपूरथला, कपूरथला के संग-संग चलने वाली बेई नदी। नदी-तट वासी नारायणदत्त नामक सारस्वत ब्राह्मण। उन्हीं के यहाँ विरजानंद का जन्म हुआ। जन्म के पाँचवें वर्ष उन पर शीतला का प्रकोप हुआ जिसमें उनकी आँखें जाती रहीं। ग्यारह वर्ष की आयु में ही उनके माता-पिता का निधन हो गया। मातृ-पितृविहीन उस नेत्रहीन बालक पर बड़े भाई ने बहुत अत्याचार किए। स्वबंधुओं के सताने पर घर छोड़ने को विवश विरजानंद ऋषिकेश चले गए। गंगा-जल में बैठकर वे गायत्री-जप किया करते थे। यहीं उन्होंने व्याकरण और वेदों का अध्ययन किया। सबसे पहले उन्होंने अलवर-नरेश विनय सिंह को विद्या-दान दिया। जयपुर के महाराजा रामसिंहजी भी उनके शिष्यों में से एक थे। गुरुजी केवल दुग्धाहार करते, विद्यार्थियों को पढ़ाते। वे अपनी अद्‌भुत स्मरणशक्ति के कारण दूर-दूर तक विख्यात थे। उन्हें अनेक ग्रंथ कंठस्थ थे। निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य में उन्हें महारत हासिल थी।

मथुरा रेलवे स्टेशन से यमुना के विश्रामघाट तक जो राजपथ है उसी के आसपास एक छोटी-सी अट्टालिका में प्रज्ञाचक्षुजी विराजा करते थे। वे संस्कृत और आर्य ग्रंथों के प्रकांड पंडित थे।

सन् 1860, मास नवंबर। किसी आगंतुक ने प्रज्ञाचक्षुजी के द्वार पर दस्तक दी। पूछा गया 'कौन ?'

'यही तो मैं जानने आया हूँ कि मैं कौन हूँ ?' दस्तक देने वाले दयानंद थे। विरजानंदजी को सच्चे शिष्य की तलाश थी। उनकी आयु उस समय 81 वर्ष की थी और शिष्य की आयु 26 वर्ष।

द्वार खुल गए। गुरु और शिष्य दोनों के हृदय-द्वार !

फिर पूछा, 'क्या पढ़े हो ?'

दयानंदजी ने शास्त्रों के नाम गिनाए।

'जाओ इन्हें यमुना में फेंक आओ।'

शायद गुरुजी ऐसा शिष्य चाहते थे जो अहंकार, पांडित्यरहित हो।

एक ज्ञान-दान देने में और दूसरा उसे प्राप्त करने में निमग्न हो गया। अत्यंत श्रद्धापूर्वक गुरुजी को नमस्कार कर दयानंद ने अध्ययन प्रारंभ किया। गुरुजी वेदादि ग्रंथों का सम्मान और भागवतादि पुराणों की निंदा करते थे। वे अनुशासनप्रिय थे। शारीरिक ताड़ना देने से भी नहीं चूकते थे। एक बार पाठ भूल जाने से उन्होंने दयानंद पर तमाचा जड़ दिया। वे लज्जित होकर गुरुजी से कहने लगे, 'गुरुजी, मेरा शरीर तो लोहे का है। आपके कोमल हाथ को कहीं पीड़ा तो नहीं हुई ?' और वे गुरुजी का हाथ दबाने लगे। गुरुजी के नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। शिष्य अपने गुरुजी की

बहुत सेवा किया करते थे। कमरे की सफ़ाई, जल भरकर लाना और गुरुजी को स्नान कराना आदि-आदि। एक बार दयानंद ने ठीक से झाड़ू नहीं लगाई। गुरुजी के नग्न पाँवों में धूल लग गई। उन्होंने शिष्य को पुकारकर कहा, 'अरे दयानंद ! तुम ठीक से झाड़ू नहीं लगा सकते, अध्ययन क्या करोगे ?' उसके बाद दयानंद ने गुरु-सेवा में भी उतना ही मन लगाया जितना अध्ययन में।

अब तक दयानंद बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके थे। कष्टप्रद यात्राओं ने उन्हें गहरी सीख दी। पंडितों-पुजारियों, साधु-संतों, भोली-भाली जनता और अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययन ने उन्हें पांडित्यपूर्ण सच्चा अनुभव प्रदान किया। वे असाधारण शिष्य थे और गुरुकृपा के प्रबल समर्थक। विरजानंदजी के सान्निध्य में रहकर उन्होंने महाभाष्य, ब्रह्मसूत्र, योगसूत्र और वेद-वेदांग का अध्ययन किया। वे गहुत ही विनम्र, सौम्य और तीक्ष्ण बुद्धि के स्वामी थे। ढाई वर्ष के अल्प समय में ही उन्होंने बहुत ज्ञान प्राप्त किया।

अपना अध्ययन संपन्न करने के पश्चात् विदा-वेला में दयानंद ने गुरु-चरणों में दक्षिणास्वरूप लौंग भेंट कर अश्रुपूरित होकर कहा, 'गुरुजी, आज्ञा दीजिए।' वे कौन-सी आज्ञा चाहते थे। वहाँ से जाने की आज्ञा या भविष्य में उचित काम करने की आज्ञा ?

गुरुजी की गुरु-गंभीर वाणी अजस्र धारा-सी फूट पड़ी—'जाओ दयानंद ! आर्य-ग्रंथों की महिमा स्थापित करो और अनार्य-ग्रंथों की धज्जियाँ उड़ाओ। मैं तुमसे तुम्हारे जीवन की दक्षिणा चाहता हूँ दयानंद।'

'तथा अस्तु गुरुदेव !'

इतना कहकर दयानंद शंखनाद करने को निकल पड़े। जिसके जीवन का उद्देश्य निरंतर चलना हो वह कभी कहीं रुक सकता है क्या ? नदी हमेशा बहती है—हिमालय से लेकर सागर तक, पर उसके तट बदलते रहते हैं।

वे आगरा होते हुए ग्वालियर पहुँचे। अपने सिद्धांतों को व्यवहार में कैसे लाया जाए और कहाँ से शुरू किया जाए, यही उनके सामने समस्या थी। जब चारों ओर गोल धरती पर अनाचार ही अनाचार हो तो प्रारंभ और अंत का पता ही नहीं चलता। भले ही उन्होंने वैष्णव मतानुयायी हरिश्चंद्र को शास्त्रार्थ में पराजित कर शैव मत की स्थापना कर ली हो, पर अभी तक उनके मन में यह दुविधा बनी हुई थी कि क्या वास्तव में ही शैव मत श्रेष्ठ है ? वे चैतन्य शिव के दर्शन करना चाहते थे, उस शिव का दर्शन जो कैलासवासी तो है पर पार्वती का पति नहीं है। क्या वैदिक मत ही शिव मत से श्रेष्ठ है ? वे एक बार फिर मथुरा आए, गुरुजी से भेंट की, अपनी दुविधा से अवगत कराया। इस बार के विचार-विमर्श के पश्चात् दयानंद यह निर्णय ले चुके थे कि उन्हें क्या करना है। विरजानंदजी ने अपने शिष्य के हृदय-कलश को इस भाँति

गढ़ा-माँजा, चमकाया कि आने वाले समय के बहुत बाद भी उसकी कांति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

विद्याध्ययन के लगभग चार वर्ष पश्चात् 1867 में वे हरिद्वार पहुँचे। यूँ तो वे इससे पहले भी हरिद्वार में कुंभ मेले में आ चुके थे। अब उन्हें यह मालूम था कि उन्हें क्या करना है और किस तरह करना है। वे असत्य का खंडन और सत्य का प्रचार करने में जुट गए।

क्या कोई जान सकता है कि नवजागरण काल के इस पुरोधा को विद्याध्ययन में कितना कष्ट उठाना पड़ा ? वे बहुत सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, संध्योपासना में निमग्न हो ब्राह्मों और विद्यार्थियों को भी उपदेश देते थे। आगंतुकों के साथ संस्कृत में बातचीत करना, कंठी-मालादि धारण करने का विरोध करना, आसन-व्यायाम करने के बाद गुरु-सेवा में उपस्थित हो अध्ययन करना कितना कठिन होगा ? विशेष रूप से तब जबकि वे अपना सब कुछ तज चुके थे। रात्रि को पठन-पाठन में व्यय होने वाले तेल का ख़र्च उनके दानी मित्र का चार आने मासिक देना उन्हें किस कदर कृतज्ञता के बोझ तले दबा देता होगा ! इसी मित्र अमरलाल ने उन्हें भोजन और अध्ययन आदि के लिए ग्रंथ जुटाए थे।

क्या यह कोई अनुभव कर सकता है कि अपने अखंड ब्रह्मचर्य की रक्षा करने के लिए उन्होंने कौन-कौन-सी तपस्या की होगी ? स्वामी दयानंद की जय बोलने में क्या जाता है ? फिर भी आज के आर्यसमाजी इसके लिए भी शर्माते और आनाकानी करते हैं। गुरुजी के लिए बीस घड़े जल भरकर लाना, वह भी यमुनाजी से, यह कोई आसान काम नहीं था। उनका मुखमंडल तप्त-ताम्र कुंदन-सुवर्ण की भाँति उद्दीप्त हो चुका था। क्या उस अमूल्य कुंदन की पहचान हो पाई ? यही प्रश्न मुझे बार-बार झकझोरते रहते हैं। अस्तु !

कुंभ मेले की धूमधाम। स्वामीजी ने धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का धुआँधार खंडन किया। उन्होंने किसी कंठीधारी को कहा, 'महाराज ! आप इस कंठी का क्या बखेड़ा डाले हैं अपने गले में ? इसे आप उतार क्यों नहीं देते ?' उन्होंने तत्काल कंठी गले से उतार दी। देखा-देखी सैकड़ों लोगों ने कंठी उतार दी, क्योंकि स्वामीजी के अनुसार—'यह अवैदिक चिह्न है।'

'और वैदिक चिह्न कौन-सा है ?' प्रश्न पूछा जाता और उत्तर होता, 'यज्ञोपवीत वैदिक चिह्न है। इसे धारण करना प्रत्येक मानव का परम धर्म है। इसे धारण किए बिना कोई भी धार्मिक कार्य नहीं किया जा सकता।'

यह सुनते ही देखते-ही-देखते यज्ञोपवीत धारण करने के लिए सैकड़ों मनुष्य पंक्तिबद्ध हो गए। स्वामी दयानंद द्वारा यज्ञोपवीत धारण करना तो महासौभाग्य था।

मूर्तिपूजा के तो वे विरोधी थे ही, मंदिर-निर्माण के भी घोर विरोधी थे।

एक सेठ ने स्वामीजी से कहा, 'मैं मंदिर बनवाना चाहता हूँ।'

'सेठजी, किसी और काम के लिए धन व्यय करो, जिससे अपना और दूसरों का कल्याण हो। मंदिर बनवाना तो अपनी संतान के लिए गहरा गड्ढा खोदना है।' स्वामीजी ने कहा। क्या वे भविष्य-द्रष्टा थे ? शायद हाँ।

इस बार के कुंभ मेले में पूर्णतः संशयमुक्त थे। वे निश्चय कर चुके थे कि उन्हें असत्य-अविद्या का नाश और सत्य विद्या की पताका फहरानी है। वे कुठार-पाणि बनकर पाखंड पर एक के बाद एक प्रहार करने लगे।

'अब मैं अकेला नहीं हूँ। मेरी बात सुनने वाली भारत-भर से आई जनता है।' जैसा कि हम पहले भी कह चुके हैं कि उन्होंने वस्त्र फाड़कर पताका बनाई और उस पर लिखा—'पाखंड-खंडिनी'। यह पताका वे जीवन-भर फहराते रहे। शायद यह पताका उनकी प्राण थी। जड़-चेतन का संग्राम होता रहा, लेकिन उस पर हमेशा चेतन की ही जय होती रही। पाखंड-खंडिनी अंत तक फहराती-लहराती रही। अपने वस्त्रों की पताका बनाने के बाद उन्होंने और कोई वस्त्र धारण नहीं किया, सिवाय कोपीन के। वे राजस्थान और उत्तर प्रदेश के कई स्थानों पर घूमते रहे। वहाँ पहुँचने से पहले वे सत्य-असत्य तथ्यों को छपवाकर बँटवा दिया करते थे।

कोई कहता, 'स्वामीजी बहुत पहुँचे हुए हैं। उनके चेहरे से नूर बरसता है।'

कोई कहता, 'स्वामीजी ईसाइयों के एजेंट हैं, मूर्तिपूजा का खंडन करते हैं।'

निंदा-स्तुति से ऊपर उठकर स्वामीजी ने वही किया जो उन्हें करना था। वे न केवल मूर्तिपूजा और मंदिरों के विरोधी थे, बल्कि रामलीला आदि की भी खिल्ली उड़ाते थे। उन्हें इस बात का दुःख था कि पंडे-पुजारी राम, कृष्ण, देवी-देवताओं की मूर्ति प्रतिष्ठित कर उन्हीं के नाम से यजमानों के सामने दो-दो चार-चार पैसों की भीख माँगते हैं। वे ज़ोरदार शब्दों में कहते, 'तुम सबने मिलकर अपने देवी-देवताओं को भिखारी बना दिया है।' रामलीलाओं और रासलीलाओं पर प्रहार करते हुए वे कहा करते, 'बीड़ी-तंबाकू पीने वाले ढोंगी लोग अपने-अपने आराध्य का स्वाँग करते हैं। ऐसा क्यों ?' भोली-भाली जनता के पास कोई उत्तर न होता, क्योंकि उनके सामने यही सत्य रखा गया था।

उन्होंने मनुष्यकृत पुराणादि ग्रंथों, वैष्णव संप्रदाय, तंत्र-मंत्रादि वाम मार्ग, भाँगादि नशे, परस्त्री-गमन, मूर्तिपूजा तथा अन्य पाखंडों का विरोध किया और गोवध का भी। कर्नल ब्रुक को उन्होंने निर्भयतापूर्वक कहा, 'आप जानते हैं कि गाय के जीवन से क्या लाभ हैं ? फिर आप लोग उसका वध क्यों करते हैं ? जिस भारत भूमि का अन्न आप खाते हैं उसी की हानि करते हैं !' ब्रुक महाशय से केवल इतना ही

कहते बना, 'आप बिल्कुल सही फ़रमाते हैं स्वामीजी ! पर गोवध बंद करना मेरे अधिकार में नहीं है।'

स्वामीजी को क्या पता था कि अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के बाद काली चमड़ी वाले अंग्रेज़ों के पास भी गोवध बंद करने की हिम्मत नहीं होगी और न ही वे मदिरा-पान पर रोक लगा सकेंगे। पानी की तरह मदिरा बहाकर और परस्त्री-गमन करके अपनी कुर्सी बचाई जाएगी।

उन्होंने आठ सत्यों का मंडन किया और वे थे ईश्वर रचित 21 वेदादि शास्त्रों का अध्ययन, ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके गुरु-सेवा, वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए संध्या-वंदन (प्रातः-सायं), पंच महायज्ञ करना, शम दम आदि नियमों का पालन करते हुए वानप्रस्थ आश्रम का ग्रहण, वैराग्यादि पराविद्या का अभ्यास और संन्यास ग्रहण, जन्म-मरण, शोक, हर्ष, काम-क्रोध, तम-रज का त्याग और सत्य का ग्रहण।

इन सत्यों का प्रचार करने के लिए वे स्थान-स्थान पर गए। उन्होंने रॉबिन्सन और शुलब्रेड आदि पादरियों के साथ विचार-विमर्श कर अपने विचारों से मौन करा दिया।

'ईसा चार दिन के लिए ईश्वर क्यों बने ?'

'एक बार मरकर वे कैसे जी उठे ?'

'फिर वे केवल आकाश में ही क्यों आरोहण करते रहे ?'

स्वामीजी के प्रश्नों का उनके पास कोई उत्तर नहीं था।

इसके बाद रॉबिन्सन महाशय ने स्वामीजी को अपने घर पर आमंत्रित किया। शिष्ट अभिवादन के आदान-प्रदान के बाद रॉबिन्सन ने उनसे पूछा, 'ब्रह्माजी ने अपनी पुत्री के साथ व्यभिचार किया था। इस बारे में आप क्या कहते हैं ?'

स्वामीजी ने तुरंत उत्तर दिया, 'एक नाम के अनेक मनुष्य हुआ करते हैं। इसका कोई प्रमाण नहीं कि वे वही ब्रह्मा थे। महर्षि ब्रह्मा तो अत्यंत पवित्र जीव थे।'

स्वामीजी के उत्तर से पादरी महोदय बहुत प्रसन्न हुए। कहा, 'मैंने अपने संपूर्ण जीवन में वेदों का प्रकांड पंडित विद्वान् नहीं देखा। आपसे जो भी भेंट करेगा उसका जीवन सुधर जाएगा।'

स्वामीजी ने चाहे अजमेर की धरती पर पाँव रखा या पुष्कर की, वे चाहे काशी गए या कलकत्ता, हर स्थान पर उन्होंने अधर्म-असत्य का खंडन और धर्म-सत्य का मंडन किया। विशेष रूप से मूर्तिपूजा का खंडन।

काशी केवल संस्कृत का ही गढ़ नहीं है बल्कि हिंदू धर्म का सशक्त केंद्र है। वे केवल संस्कृत भाषा में ही व्याख्यान देते, शास्त्रार्थ करते और मूर्तिपूजा के प्रबल समर्थकों को चुनौती देते। पंडित लोग स्वामीजी से इतने परेशान थे कि उन्होंने अपने

मठ हिलते देख उन पर प्राणघाती हमले करवाए।

काशी जाने का मुख्य मुद्दा था शास्त्रार्थ। और शस्त्रार्थ का मुख्य विषय था 'मूर्तिपूजा वेदानुमोदित है या नहीं ?' शास्त्रार्थ की तिथि थी नवंबर 16, 1869 । एक ओर थे स्वामी दयानंद सरस्वती और दूसरी ओर था पंडित समूह स्वामी विशुद्धानंद, बालशास्त्री, माधवाचार्य और ताराचरण आदि।

शास्त्रार्थ का अंत होते न होते पं० माधवाचार्य ने वेद के दो पन्ने सामने रखकर कहा, 'इसमें लिखा हुआ है कि यज्ञ की समाप्ति के बाद यजमान दसवें दिन पुराण का पाठ सुने। यह 'पुराण' शब्द यहाँ किसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है ?' स्वामीजी इन पन्नों को देख ही रहे थे कि विशुद्धानंदजी ने कहा, 'हम और प्रतीक्षा नहीं कर सकते। हम जाते हैं।' इतना सुनकर सभी खड़े होकर हो-हल्ला करने लगे। किसी ने कहा, 'स्वामी हार गए।' और किसी ने कहा, 'स्वामीजी जीत गए।' इससे स्वामीजी को ख़ास फ़र्क नहीं पड़ा।

17 जनवरी, 1870 को पैट्रिएट में जो ख़बर छपी उसका सारांश यह था कि अठारह वर्ष वेदों पर विचार करने के बाद दयानंद इस सिद्धांत पर पहुँचे हैं कि मूर्तिपूजा किसी अंश में भी वेदानुकूल नहीं है।

काशी शास्त्रार्थ के बाद स्वामीजी प्रयाग, मिर्ज़ापुर से होते हुए पुनः काशी पधारे। इस बार काशी-नरेश ने उनका स्वागत किया। उन्हें स्वर्ण कुर्सी पर बैठाया गया। राजमहल में शास्त्रार्थकालीन दुर्व्यवहार के प्रति क्षमा-याचना की।

कलकत्ता के विख्यात बैरिस्टर श्री चंद्रशेखर सेन शास्त्रार्थ में दयानंदजी से अत्यंत प्रभावित हुए और उन्हें कलकत्ता आने के लिए निमंत्रण दिया। इसी तरह महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने भी उन्हें निमंत्रण दिया था। वे उनकी तीक्ष्ण बुद्धि के समक्ष नतमस्तक थे। वे निर्भीक, सौम्य, शांत और प्रखर विद्वान् थे।

कलकत्ता ने उनके स्वागत में पलकों के पाँवड़े बिछा दिए थे और स्वामीजी भी महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, केशवचंद्र सेन, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, हेमचंद्र चक्रवर्ती, प्रसन्नकुमार ठाकुर आदि विद्वानों से मिलने को आतुर थे। केशवचंद्र सेन के निवास पर उन्होंने अनेक ब्राह्म बंधुओं से वार्तालाप किया। श्री नगेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय ने उनके लिए जो प्रशंसात्मक टिप्पणी की वह अद्भुत-अपूर्व है। उनका कहना है–

'केशव बाबू के घर जिस दिन मैंने प्रथम दयानंद की वक्तृता सुनी उस दिन एक नई बात मैंने अनुभव की। मैं नहीं जानता था कि संस्कृत भाषा में ऐसी सरल और मधुर वक्तृता हो सकती है। वे ऐसी सहज संस्कृत बोलने लगे कि संस्कृत भाषा में जो व्यक्ति महामूर्ख हो वह भी अनायास ही उनकी बात समझ लेता था। और एक विषय में मुझे आश्चर्य हुआ। अंग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ, हिंदू संन्यासी के मुख से धर्म

और समाज के विषय में ऐसे उदार विचार मैंने पहले कभी नहीं सुने थे।'

इसी प्रकार 30 दिसंबर, 1872 के 'इंडियन मिरर' में प्रकाशित हुआ समाचार भी इस प्रकार की बात करता है, 'मूर्तिपूजा के महाबैरी पंडित दयानंद सरस्वती, जिन्होंने थोड़े दिन पहले काशी के पंडितों को शास्त्रार्थ में पराजित कर ख्याति अर्जित की थी।'

वहाँ के साहित्यकारों, कलाप्रेमियों और दयानंद का एक-दूसरे पर प्रभाव रहा; बल्कि साधारण जनता पर भी उनकी विद्वत्ता, निर्भीकता, सरल-सहज संस्कृत भाषा, भाषणों में उनकी उदार-व्यापक दृष्टि ने भी सभी का मन मोह लिया। अब तक के दयानंद संस्कृत-भाषी थे, लेकिन कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्होंने पढ़ना, बोलना और लिखना शुरू किया। एक वर्ष के अल्प समय में ही उन्होंने शास्त्रीय हिंदी में भाषण देकर सभी को चौंका दिया। 1874 का मई मास। तब उन्होंने काशी में हिंदी में पहला भाषण दिया। इससे पूर्व उन्होंने हिंदी-भाषी प्रदेशों की यात्रा की थी। निश्चय ही उन्होंने देशी भाषा सीख ली होगी। शास्त्रीय विषयों की व्याख्या करने के लिए उन्होंने विशाल शब्द-संपदा एकत्रित कर ली थी।

वैसे भी बँगला साहित्य के हिंदी अनुवाद ने हिंदी-भाषियों का संवेदनात्मक और कलात्मक साहित्य से परिचय हुआ। इसमें कोई संदेह नहीं कि दयानंदजी बंगाल-प्रवास के दौरान ही हिंदी भाषा के सशक्त प्रचारक, लेखक और साहित्यकार बने। पता नहीं क्यों उनके साहित्यकार रूप की ओर न तो इतिहासकारों और न ही साहित्यकारों का ध्यान गया। जब भारतेंदु हरिश्चंद्र और राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद की ओर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने देखा तो न जाने क्यों दयानंदजी की ओर उनका ध्यान नहीं गया। इसकी चर्चा मैं अन्यत्र करूँगी। हिंदी गद्य के निर्माण में वे एक सशक्त स्तंभ की तरह थे। न केवल मन बल्कि उनके तन को भी कलकत्ता प्रवास ने बदल दिया। कौपीन के स्थान पर उन्होंने धोती-कुरता और अंगवस्त्र धारण कर लिया था। शायद हुगली नदी की यही देन उनके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। कलकत्ता के बाद उन्होंने बिहार की ओर रुख किया।

इतना स्पष्ट है कि उनके तेजस्वी व्यक्तित्व को लेकर मिश्रित धारणाएँ बन चुकी थीं। कोई उन्हें सरस्वती-पुत्र समझता और कोई उनका चेहरा देखना भी पसंद न करता। वे धर्म की शास्त्र-सम्मत व्याख्या कर पंडितों को आश्चर्यचकित कर देते और वे उनकी जान के दुश्मन बने रहते। वह निश्छल हृदय स्वामी देशभर में वैदिक पाठशालाएँ खोलने की योजना बनाया करता।

1874 की बंबई। पड़ाव-पर-पड़ाव पार करते स्वामीजी बंबई पहुँचे। कलकत्ता-वासियों की तरह बंबई-निवासी प्रबुद्ध और जागरूक थे। राजकोट पहुँचकर उन्होंने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। ब्रिटिश सरकार ने उसे देशद्रोही संस्था माना। इसलिए

यह संस्था विकसित नहीं हो सकी। राजकोट उनकी जन्मभूमि के निकट था। वहाँ के प्रसिद्ध कवि नर्मद और प्रार्थना सभा के नेताओं के आमंत्रण पर स्वामीजी वहाँ पधारे थे। वे यह चाहते थे कि प्रार्थना समाज और आर्यसमाज दोनों मिलकर समाज में फैली कुरीतियों को जड़ से उखाड़ दें। पर ऐसा संभव नहीं हो सका। वे 1875 में एक बार फिर बंबई पधारे।

1875 की 29 जनवरी। यहाँ उन्होंने गिरगाँव रोड पर डॉ० माणिकजी बागवाड़ी में आर्यसमाज की स्थापना की। प्रसिद्ध क्रांतिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा, गिरिधरलाल दयालदास कोठारी ने सदस्यता ग्रहण की। 28 नियमों वाले आर्यसमाज का अत्यंत महत्त्वपूर्ण नियम था कि वेदानुकूल आर्य और संस्कृत भाषा में पुस्तक निकाली जाएगी जिसका नाम होगा 'आर्यप्रकाश'। इसी नाम से एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला जाएगा।

यदि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने अपने साहित्य में गद्य के लिए खड़ीबोली और पद्य के लिए ब्रजभाषा का चयन किया तो स्वामी दयानंद ने आर्य-विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए जिस देशी भाषा को अपना माध्यम बनाया वह थी आर्यभाषा अर्थात् आर्यों की भाषा। धर्म और जाति की दृष्टि से भारत में कई जातियों को स्वीकार किया, लेकिन स्वामीजी ने सृष्टि में केवल दो ही जातियाँ स्वीकार कीं। वे थीं आर्य और दस्यु। भले लोग और बुरे लोग। इसलिए उन्होंने आर्यभाषा को अपने विचारों का सशक्त माध्यम बनाया। इसके बाद तो स्वामीजी और आर्यसमाज आज तक एक-दूसरे के पर्याय बने रहे और बने रहेंगे।

स्वामीजी ने स्थान-स्थान पर आर्यसमाजों की स्थापना की तब उन्होंने घोषणा की—'सभी आर्य सभासदों को संस्कृत या आर्यभाषा जाननी चाहिए।'

तब स्वामीजी को क्या पता था कि आगे आने वाली पीढ़ियाँ संस्कृत और हिंदी भाषा सीखने में अपराधबोध से ग्रसित हो जाएँगी। यदि कलकत्ता-प्रवास के दौरान स्वामीजी ने हिंदी का पठन-पाठन आरंभ किया तो बंबई-प्रवास भी उनके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि के रूप में सामने आया। वह उपलब्धि है 'सत्यार्थप्रकाश' का प्रकाशन। स्वामीजी रचित अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथों में यह ग्रंथ सर्वोपरि है। अन्य दो ग्रंथ हैं—'संस्कार-विधि' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका'। हिंदी का प्रचार-प्रसार करने में इस ग्रंथ की अहम भूमिका रही है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हिंदी गद्य को स्वामीजी ने शब्दों की विशाल संपदा प्रदान की।

'सत्यार्थप्रकाश' का प्रथम संस्करण अप्रैल 1875 में प्रकाशित हुआ। मुरादाबाद निवासी सी०एस०आई० राजा जयकृष्णदास ने उन्हें प्रेरणा दी और लिपिबद्ध करने के लिए महाराष्ट्र के पंडित चंद्रशेखर को नियुक्त किया। इसका लेखन लगभग चार मास

तक चला—जून 12, 1874 से लेकर सितंबर 1874 तक। लेकिन बहुत जल्दी इस ग्रंथ का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें स्वामीजी ने कुछ परिवर्तन कर उसे ही प्रामाणिक माना है।

समाज का सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्र पुणे था। एक प्रकार से यह मराठों की सांस्कृतिक नगरी थी। स्वामीजी का शंखनाद सुन पुणे के न्यायाधीश महादेव गोविंद रानाडे और गोपालहरि देशमुख उनके प्रति पूरी तरह आस्थावान हो चुके थे। महात्मा फुले भी उनका लोहा मानने लगे थे। इन सभी विभूतियों ने स्वामीजी को पुणे निमंत्रित किया। 1875 में ही पुणे पधारकर स्वामीजी ने विभिन्न विषयों पर सरल हिंदी में लगभग पचास व्याख्यान दिए, जिन्हें मराठी में लिपिबद्ध किया गया और बाद में रानाडे ने उन्हें पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाया। इन भाषणों का अनुवाद हिंदी, गुजराती और उर्दू में किया गया। उर्दू अनुवादक थे स्वामी श्रद्धानंदजी, वही स्वामीजी जिन्होंने देश के लिए हँसते-हँसते सीने पर गोलियाँ खाईं।

श्रद्धानंदजी ने इन भाषणों को आर्य नर-नारियों के लिए संजीवनी बूटी के समान माना है। वस्तुतः ये भाषण सत्यार्थप्रकाश में प्रवेश करने के द्वार हैं। एक भाषण में अपार जनसमूह के सामने स्वामीजी ने कहा, 'हम सर्वज्ञ नहीं और न ही सभी बातें हममें उपस्थित हैं। हमारे बोलने में अनंत दोष होते होंगे जिन्हें हमें स्वीकार करना ही चाहिए। अपने दोषों को स्वीकारना ही मनुष्यता है।'

परंतु क्या कोई अपने दोषों को स्वीकार कर पाता है ? दोष जतलाने पर क्या कोई आग्नेय नहीं होता ?

कैसे थे ये मूलशंकर ? जिसने अपनी अध्ययन-यात्रा घर से शुरू की। संस्कृत का अपार भंडार लेकर हिंदी सीखी और दूसरी भाषाओं को भी अत्यधिक सम्मान दिया। उन्हें यह स्वीकारने में लेशमात्र भी संकोच नहीं था कि भीष्म पितामह, युधिष्ठिर और विदुर बहुभाषाविद् थे। वे पश्चिम की कुछ भाषाएँ बोल सकते थे। उन्होंने सब कुछ खुले मन से स्वीकार किया।

पुणे से बंबई, बंबई से बड़ौदा होते हुए एक बार फिर वे काशी पहुँचे। कभी उन्होंने पाखंड-खंडिनी फहराई थी, कभी सत्यार्थप्रकाश लिखा था और अब उनके मन में वेदों का भाष्य करने की प्रवृत्ति उमड़ने-घुमड़ने लगी थी।

संवत् 1933, सन् 1876 का माघ मास, शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा, रविवार का दिन और अयोध्या नगरी का सरयूबाग। इसी दिन उन्होंने ऋग्वेद का भाष्य शुरू किया था। उन्होंने भाष्य का उद्देश्य स्पष्ट लिखा है—

'मैं प्राचीन आर्य नीति का अवलंबन करके ही इस वेद भाष्य की रचना में प्रवृत्त हुआ हूँ। यह भाष्य ऐतरेय और शतपथादि व्याख्या ग्रंथों के अनुकूल होगा। इसमें

कोई अप्रामाणिक बात नहीं होगी।

इसके बाद वे अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं, 'ब्रह्मा से व्यासदेव-पर्यंत महर्षिगण ने जिस भाव और जिस प्रणाली में वेदार्थ निर्धारित किया है, मैं इस भाष्य में केवल उसी भाव और प्रणाली का अनुसरण करता हूँ।'

दिल्ली दरबार

1 जनवरी, 1877 की दिल्ली। दिल्ली का दिल्ली दरबार। महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की सम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने के उपलक्ष्य में वायसराय लॉर्ड लिटन ने दिल्ली और देश के अन्य गण्यमान्य व्यक्तियों को आमंत्रित किया था। महारानी विक्टोरिया दूसरी महिला थीं जिन्होंने सागर-पार बैठकर दिल्ली के दिल पर शासन किया था। इससे पहले महारानी पेभी ने इस पद को सुशोभित किया था। वायसराय साहब एक ओर महारानी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना चाहते थे और दूसरी ओर भारत के गण्यमान्यों के सम्मुख ब्रिटिश हुकूमत का वैभव दर्शाना चाहते थे। उस दरबार में कई राजा-महाराजाओं, समाज-सुधारकों, विद्वानों और दार्शनिकों की उपस्थिति ने चार चाँद लगा दिए थे। स्वामी दयानंद सरस्वती भी उनमें से एक थे। स्वामीजी राजाओं-महाराजाओं से मिलकर उन्हें समाज-सुधार संबंधी अपनी योजना से अवगत कराना चाहते थे। पर ऐसा संभव नहीं हो सका। अंग्रेज़ नहीं चाहता था कि राजे-महाराजे स्वामीजी की योजना स्वीकारें। यदि ऐसा हो जाता तो उनकी सामाजिक क्रांति राजनीतिक क्रांति का रूप ले लेती। दूसरे राजदरबारी भी नहीं चाहते थे कि स्वामीजी का प्रभाव बढ़े। यदि ऐसा होता तो उनकी चापलूसी का क्या होता ? कश्मीर के महाराजा रणवीर सिंह चाहकर भी स्वामीजी से नहीं मिल सके। भेंट नहीं हुई तो कोई बात नहीं, लेकिन स्वामीजी सभी धर्मों में साम्य चाहते थे और एकजुट होकर ब्रिटिश सरकार को उखाड़ना चाहते थे। वे धार्मिक-सामाजिक एकता चाहते थे। इसलिए उन्होंने सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें सर्वश्री ब्रह्मानंद, केशवचंद्र सेन, नवीनचंद राय, मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी, मुंशी इंद्रमणि, हरिश्चंद्र चिंतामणि और सैयद अहमद उपस्थित थे। इन सभी नेताओं का विचार-विमर्श केवल विमर्श बनकर रह गया, उसका कार्यान्वयन नहीं हो सका।

दिल्ली से मेरठ, चाँदपुर और फिर पंजाब की ओर। पाँच नदियों वाला पंजाब जिसकी मिट्टी की खुशबू व्यक्ति को कर्मठ और पराक्रमी बना देती है। शाहजहाँपुर, सहारनपुर, लुधियाना और फिर लाहौर। लाहौर में (1877) स्वामीजी ने आर्यसमाज की स्थापना की। यह स्थापना दो दृष्टियों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। समाज की स्थापना डॉ० रहीम ख़ाँ की कोठी पर की गई। दूसरा यह कि बंबई में स्थापित

आर्यसमाज के 28 नियम 10 नियमों में बँध गए। एक महत्त्वपूर्ण नियम यह था कि 'सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।' थोड़ी देर के लिए मैं अपने पाठकों को थोड़ा पीछे लिए चलती हूँ। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' उन्होंने दूसरों की उन्नति के लिए लिखी और उसमें उन्होंने अपनी ही उन्नति समझी। वे चाहते थे कि हिंदी में प्रामाणिक अनुवाद उपलब्ध हो। इसलिए उन्होंने पंजाब से आर्थिक अनुदान केवल इसलिए लेना चाहा कि यह साहित्यिक अनुष्ठान निर्विघ्न संपन्न हो। उन्होंने गवर्नर साहब को दो अंक भेजे, लेकिन खेद कि वे अस्वीकृत हो गए। जब विद्वानों के पास उनका भाष्य सम्मति के लिए भेजा गया तो उन्होंने जमकर विरोध किया और अप्रामाणिक माना। परंतु स्वामीजी का कार्य धनाभाव से रुका नहीं। एक हज़ार व्यक्तियों ने अग्रिम राशि भेजकर इस महायज्ञ में आहुति दी। जब मैं आज गुटबंदी के बारे में सोचती हूँ तो मुझे यह लगता है कि यह आलोचना-समालोचना एक शाश्वत धर्म है। जब दयानंद सरीखे पुरोधाओं की रचनाओं का घोर विरोध होता रहा तो मेरे जैसे सामान्य व्यक्ति की तो औकात ही क्या ! धनाभाव के कारण यदि कोई साहित्यकार जीवट रूप में साँस लेता है तो वह क्या कम है ?

उनके विरोधियों के बीच में एक स्वर श्रीअरविंद का उभरा था और वह यह था, 'स्वामी दयानंद ने सत्य के अर्थों को खोज निकाला, इसलिए उनकी प्रतिष्ठा सबसे बढ़कर की जाएगी।'

पंजाब यात्रा

अमृतसर, गुरुदासपुर, जालंधर, फ़ीरोज़पुर, रावलपिंडी, जेहलम, गुजरात, गुजराँवाला, मुलतान आदि स्थानों पर उनके व्याख्यान सुने जाते रहे। सोलह महीने तक वे पंजाब में अपनी पताका फहराते रहे। हिंदू, सिख, मुसलमान और ईसाइयों को वे एकसूत्र में पिरोना चाहते थे। उनका मानना था कि ये सब मिलकर एक अखंड, पवित्र और शांत भारत का निर्माण कर सकते हैं। वे अपने साथ ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज को भी लेकर चलना चाहते थे, लेकिन ऐसा संभव नहीं हो सका। पंजाब में ही उन्होंने 'आर्योदेश रत्नमाला' की रचना की, जिसमें वैदिक सिद्धांतों को सरल वस्त्र-विन्यास पहनाया गया है।

वे भारत का एक रूप देखना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपनी भाषा सीखने पर बल दिया। अन्य भाषाओं में उनकी पुस्तकों का अनुवाद बहुत आसानी से हो सकता था, लेकिन उन्होंने सभी प्रस्तावों को ठुकरा दिया। वे तो उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे कि जब सभी एक ही भाषा हिंदी के माध्यम से उनके ग्रंथों का पठन-पाठन करें। आज जब भाषा के आधार पर सरकार ने अलग-अलग अकादमियों की स्थापना

कर विभिन्न साहित्यकारों में मतभेद पैदा कर दिए हैं तो आप उस दंडधारी स्वामी के निश्छल स्नेह की कल्पना कीजिए जो विदेशी राज्य में एक भारत की एक ही भाषा की परिकल्पना करता था। जब देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी जा सकती है तो अन्य ग्रंथों को पढ़ने के लिए क्यों नहीं ?

स्वामीजी सहारनपुर पहुँचे। उनकी भेंट थियोसोफ़िकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल एच०एस० आल्काट और मैडम एच०पी० ब्लैवेट्स्की से हुई। उन दोनों ने अब तक स्वामीजी का नाम ही सुना था। भेंट करने के बाद आल्काट महोदय ने उनके प्रति आभार व्यक्त किया—

'हमें सुधी पूजनीय विद्वानों की आवश्यकता है। हम आपके चरणों में उसी भाव से आते हैं जिस भाव से पिता के चरणों में पुत्र जाते हैं और कहते हैं कि हे गुरो ! हमारी ओर देखिए और हमें बतलाइए कि हमें क्या करना है। हमको अपनी शिक्षा और सहायता दीजिए। हम आपके समीप नम्रता के साथ आते हैं, हम आपकी शिक्षा मानने के लिए और अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए उद्यत हैं।'

एक ओर स्वामीजी के प्रति विदेशी विद्वान् की कृतज्ञता और दूसरी ओर भारतीयों की शर्मनाक कृतघ्नता, जिससे स्वामीजी को विष देकर बार-बार उनके प्राण-हरण की चेष्टा की गई। कितना दुर्भाग्य है हमारे देश का ! और इसी दुर्भाग्य में हम प्रसन्न हैं।

इसी प्रवास में स्वामीजी की मुलाकात मुंशीराम से हुई जो बाद में श्रद्धानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए। पहला भाषण सुनते ही वह युवक अवाक् रह गया। 'यह कैसा व्यक्ति है जो केवल संस्कृतज्ञ हो, युक्ति-युक्त बातें कर विद्वानों को चुप करा देता है !'

वे बार-बार बातें करते और चुप हो जाते। एक बार मुंशीराम ने कहा, 'आपने मुझे यह विश्वास नहीं दिलाया कि परमेश्वर का कोई अस्तित्व है।'

स्वामीजी का गुरु-गंभीर स्वर गूँजा, 'मैंने तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दिया, पर मैंने कब कहा था कि मैं तुम्हारा विश्वास परमेश्वर पर करा दूँगा। यह तो तभी संभव है जब परम कारुणिक प्रभु ही तुम पर कृपा करेंगे।'

इसी दौरान 1880 में स्वामीजी ने वैदिक मंत्रालय की स्थापना की। इसी वर्ष वे मेरठ पधारे, शायद छठी बार। एक बार फिर उनकी मुलाकात कर्नल आल्काट और मैडम ब्लैवेट्स्की से हुई। वे दोनों योगाभ्यास से प्राप्त सिद्धियों में विश्वास रखते थे और स्वामीजी 'वेद अपौरुषेय है' कहा करते। इसलिए मूल मतभेद के कारण वे ज़्यादा समय तक निभा नहीं सके। लेकिन स्वामीजी के प्रति उनका सम्मान बराबर बना रहा। वे दोनों स्वीकार करते कि—'शंकराचार्य के बाद भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा वक्ता

और कुरीतियों पर निर्भीक आक्रमणकारी रहा हो।'

स्वामीजी ने यह निर्णय किया कि देश के राजा-महाराजा उनके पुनीत कार्य में योगदान दे सकते हैं, क्योंकि दूसरी संस्थाओं की तुलना में ये धर्म, संस्कृति और भाषा से प्यार करते हैं। दूसरी ओर वे यह भी जानते थे कि आम जनता पूरी तरह सामंतवाद के शिकंजे में है। इसलिए उन्होंने एक बार फिर राजस्थान की यात्रा की। पहले वे भरतपुर गए, बाद में जयपुर और अजमेर। इस बार वे चित्तौड़ गए, उदयपुर के राजा सज्जनसिंह से भेंट की। उन्हें निमंत्रित करने वाले थे कवि राजा श्यामलदास और पं० मोहनलाल-विष्णुलाल पांड्या। वे चाहते थे कि स्वामीजी के प्रभाव से महाराजा साहब अपना रास-रंग छोड़ दें। स्वामीजी भी चाहते थे कि देश के राजा-महाराजा अपना विलास छोड़ जनता के दुःख-दर्द को समझें और वास्तव में ही वे पितृतुल्य बन जाएँ। 'कितना अच्छा होता कि यदि ये पालक वास्तव में ही जनता के पालक बन जाते।' पर क्या वे इन राजाओं-महाराजाओं को सुधार सके ? शायद हाँ। उनके संपर्क में आने वाला हर व्यक्ति मांस-मदिरा तजकर एक साफ़-सुथरी छवि वाला इनसान बन जाता, एक वास्तविक इनसान।

गोरक्षा अभियान

29 दिसंबर, 1881 की बंबई नगरी। समुद्र-तट पर बसी यह नगरी हमेशा से ही धर्म, संस्कृति और राजनीति का केंद्र रही है। यहाँ स्वामीजी ने आर्यसमाज की स्थापना कर इससे पूर्व भी नाना विषयों पर व्याख्यान दिए थे। इस बार उन्होंने गोरक्षा अभियान चालया। उन्होंने जो कहा, करोड़ों श्रवणों तक पहुँचा।

'गोरक्षा का संबंध है देश की व्यापक अर्थ-नीति से। इसे केवल हिंदू धर्म से नहीं जोड़ना चाहिए।'

स्वामीजी ने कहा, ''देश के करोड़ों हाथ निवेदन-पत्र पर हस्ताक्षर करें और इस पत्र पर लिखी स्याही महारानी विक्टोरिया को सोचने के लिए बाध्य कर देगी।'

एक के बाद एक हस्ताक्षर जुड़ता गया और मन की आवाज़ कहता गया। इन हस्ताक्षरों में मुसलमान और ईसाइयों के हस्ताक्षर भी कम नहीं थे। सबसे बड़ी बात यह कि इसमें गाय-बैलों के अतिरिक्त भैंसों की हत्या न करने की प्रार्थना की गई थी। बाद में यह प्रपत्र 'गो करुणानिधि' के नाम से प्रकाशित हुआ।

तब अंग्रेज़ी शासन से निवेदन किया गया था और आज स्वतंत्र भारत में भी लोग चैन की नींद सो रहे हैं। उनके कानों में इन मूक पशुओं का आर्तनाद क्यों नहीं पहुँचता ?

बंबई के बाद वे एक बार उदयपुर पधारे। उनके चरणों में बैठकर महाराणा

सज्जनसिंह ने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और बाद में मनुस्मृति, योगदर्शन और महाभारत के चुनिंदा प्रसंगों का अध्ययन किया।

स्वामीजी भी अपने इस आदर्श महाराणा शिष्य को आदर्श शासक के रूप में देखना चाहते थे। स्वामीजी ने उनसे आदेशात्मक स्वर में कहा, 'पशु-वध बंद करवाइए और हिंदी का ज़्यादा से ज़्यादा प्रयोग करवाइए।'

महाराणा स्वामीजी से प्रभावित थे, उनके आदेश का पालन किया। लेकिन वे अपने गुरुजी के मूर्तिखंडक रूप से प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने स्वामीजी से निवेदन किया, 'आप इस मंदिर के महंत बन जाइए। आपके पास लाखों की संपत्ति होगी, जिसका उपयोग आप वेद भाष्य प्रकाशन आदि कार्यों में कर सकेंगे।'

लेकिन उन्होंने दृढ़ स्वर में कहा, 'राणाजी ! आप यह प्रस्ताव किस व्यक्ति के सामने रख रहे हैं ? आपका राज्य तो इतना छोटा है कि मैं एक दौड़ लगाकर ही इसके बाहर जा सकता हूँ, परंतु विश्वनियंता परमात्मा के ब्रह्मांड रूपी राज्य को छोड़कर मैं कहाँ जा सकता हूँ। वेद और ईश्वर की आज्ञा भंग करना मेरे लिए संभव नहीं।'

इस संन्यासी ने प्रखरतापूर्वक उद्‌घोष किया, 'जब तक समस्त देशवासी एक ही धर्म के अनुयायी, एक ही भाषा बोलने वाले तथा एक ही प्रकार के आचार-विचार व्यवहार को धारण कर एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु कृतनिश्चय नहीं हो जाते, तब तक स्वदेश की एकता तथा उसकी सर्वांगीण समृद्धि स्वप्न मात्र रहेगी।' स्वामीजी अच्छी तरह जानते थे कि एक भाषा एक विचार के बिना देश का सर्वांगीण विकास संभव नहीं। इसलिए उन्होंने केवल एक ही भाषा को चुना। उस समय भी देश की कई भाषाएँ थीं, लेकिन हिंदी को उन्होंने सूत्र रूप में स्वीकारा। काश कि वह एक सूत्र आज भी सर्वभाषाओं को पिरो सकने में समर्थ होता !

स्वामीजी चित्तौड़ होते हुए शाहपुरा और जोधपुर पहुँचे। कारण था जोधपुर-नरेश का सुधार करना। उन्होंने जोधपुर-नरेश की विलासिता, उनकी प्रेयसी और चापलूस दरबारियों के बारे में सुन रखा था। उन्होंने महाराजा को मनुस्मृति के आधार पर राजधर्म करने का उपदेश दिया। निर्भय होकर उन्होंने महाराज को चेताया, 'जिन लोगों पर सोलह लाख से अधिक जनसंख्या का दायित्व है, यदि वे ही स्वकर्तव्यों से पराङ्मुख हो जाएँगे तो इस देश का भविष्य अंधकारपूर्ण ही मानना चाहिए।'

कैसा अद्‌भुत संन्यासी था वह जिसने सब कुछ साध रखा था और राजा-महाराजा को भी खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकता था। एक बार महाराज ने उनसे निवेदन किया, 'हमें कोई ऐसा काम बतलाएँ जिससे हमारा मोक्ष हो।'

स्वामीजी ने हमेशा की तरह निर्भीक होकर उत्तर दिया, 'काम तो तुम्हारे मोक्ष के नहीं हैं, परंतु एक न्याय तुम्हारे हाथ में है। यदि न्यायपूर्वक प्रजापालन करोगे तो

तुम्हारा मोक्ष हो सकता है। यह उनके हृदय की सच्चाई थी जो उनकी वाणी पर विराजकर अपना अमिट प्रभाव छोड़ देती थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि उन्होंने हिंदी को राजकाज की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया और राजकर्मचारियों के लिए खादी पहनना अनिवार्य कर दिया।

उनके भाषणों के कुठाराघाती रूप से एक ओर जोधपुर के मंत्री फैजुल्ला खाँ और दूसरी ओर महाराजा की प्रेयसी नन्ही भक्तिन भी उनसे बहुत नाराज़ थी। कुछ लोग स्वामीजी का तीव्र विरोध करने लगे थे। शायद कहीं कुछ गंभीर षड्यंत्र था।

निधन

जो भी व्यक्ति स्वामीजी के प्राणहनन की कोशिश करता, स्वामीजी उसे दृढ़ स्वर में कहते, 'यह अच्छी तरह जान लो कि जब तक परमात्मा किसी को नहीं मारता तब तक कोई भी व्यक्ति उसे मारने में समर्थ नहीं हो सकता।' यही कारण है कि कई बार उन्हें मारने की चेष्टा की गई, प्रभु-कृपा से वे बच गए। उन्हें क्या पता था कि जिस जोधपुर के शासक को वे सुधारने गए थे वहाँ की भूमि न केवल उनके प्रति बल्कि देशवासियों के प्रति इतनी क्रूर होकर नवजागरण के पुरोधा का भक्षण कर लेगी !

1883 का 12 सितंबर। स्वामीजी का एक विश्वस्त सेवक चार-पाँच सौ रुपए का सामान लेकर चंपत हो गया। आख़िर उस सेवक को क्या सूझी होगी कि स्वामीजी जैसे शांत-स्निग्ध व्यक्ति के साथ विश्वासघात करे ! फिर 29 सितंबर की अर्द्धरात्रि। वे हमेशा की तरह रात को दूध पीकर सोए। उनके पेट में बहुत दर्द हुआ और वमन भी। अगली सुबह उठे तो उन्हें वमन हुआ। वे समझ गए कि उन्हें विष दिया गया है। एक के बाद एक डॉक्टर आते रहे और ओषधि देकर जाते रहे। पर किसी भी ओषधि का उन पर असर नहीं हो रहा था और उनकी हालत लगातार बिगड़ती चली जा रही थी। 12 अक्तूबर तक स्वामीजी की अस्वस्थता का किसी को पता नहीं चला। 'राजपूताना गजट' में स्वामीजी की अस्वस्थता का समाचार प्रकाशित हुआ। यह ख़बर जंगल में आग की तरह फैल गई। संखिए का विष था यह। शायद काँच भी रहा हो। डॉ० अलीमर्दान भावी आशंका से घबरा गए और उन्हें आबू ले जाने की सलाह दी जिसका समर्थन रेज़ीडेंसी के डॉक्टर साहब ने भी किया। वे जोधपुर से 16 अक्तूबर को चल, रास्ते के नाना कष्ट झेलते हुए 20 अक्तूबर को आबू रोड स्टेशन पहुँचे। वहाँ डॉ० लक्ष्मणदास की दवा से कुछ चेतना लौटी, लेकिन फिर पूर्ववत्। कोई लाभ न होता देख स्वामीजी को अजमेर लाया गया। किसी भी डॉक्टर ने चिकित्सा में कोई कमी न छोड़ी। मृत्यु थी कि धीरे-धीरे लगातार उनकी ओर बढ़ती चली आ रही थी। देश के कोने-कोने से भक्तों का सागर उमड़ा चला आ

रहा था। स्वामीजी अपना अंत निकट देख रहे थे। डॉक्टरों के मना करने पर भी उन्होंने अपना पलंग बरामदे में लगवाया। डॉ० लक्ष्मणदास के आग्रह पर सिविल सर्जन को बुलाया गया। वे उनके अपूर्व आत्मबल को देखकर चौंधिया गए।

स्वामीजी ने वैसी ही ओजस्वी वाणी में डॉक्टरों को आदेश दिया, 'मेरा अंत समय आ गया है, उपचार छोड़ दो।'

उनके शरीर पर फफोले उभर आए थे। श्वास की गति तीव्र हो गई थी। उस दिन दीपावली थी। अंधकार पर प्रकाश की विजय। एक प्रकाश-पर्व। स्वामीजी जीवनभर प्रकाश-पर्व के लिए संघर्ष करते रहे। इस समय वे भक्त-वृंद के बीच में थे। स्वामीजी ने उन्हें पीछे खड़े होने का आदेश दिया और कहा, 'सब द्वार खोल दो। प्रकाश को आने दो।'

द्वार खुल गए और प्रकाश भर गया। उन्होंने पूछा, 'आज कौन-सा दिन है ?'

रुँधे गले से उत्तर मिला, 'कृष्णपक्ष का अंत और शुक्लपक्ष का आरंभ। मंगलवार।'

स्वामीजी का हृदय-कमल खिल उठा। वे मंत्रोच्चार करने लगे। मंत्रोच्चार करते-करते वे समाधिस्थ हो गए। कुछ देर बाद उन्होंने आँखें खोलीं, चारों ओर देखा और मधुर स्वर में बोले, 'हे दयामय, हे सर्वशक्तिमान, तेरी यही इच्छा है। तेरी इच्छा पूर्ण हो। तैने अच्छी लीला की।' और 'ओ३म्' का उच्चारण करते हुए अपने प्राण-पखेरू को न जाने किस अनंत आकाश में ले गए।

गुरु और शिष्य दोनों एक-से चमकते-दहकते सूर्य थे। जब संवत् 1925 में स्वामी विरजानंदजी के निधन का दुःखद समाचार उन तक पहुँचा तो मुरझाए चेहरे और लगातार मौन के पश्चात् वे केवल इतना ही कह सके, 'आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।'

स्वामी दयानंद के अवसान पर न जाने कितने कंठ-द्वारों से यह निकला होगा— 'आज आर्यावर्त का सूर्य अस्त हो गया।' एक ही आर्यावर्त की परिकल्पना लिए वे इस संसार से विदा हुए। स्वामीजी जानते थे कि क्या होने वाला है, इसलिए उन्होंने पंड्याजी से कहा, 'पंड्याजी, खेद से खिन्न न हूजिए। अब विधाता की ऐसी ही इच्छा है। देह का बिगड़ना-बनना तो पानी के बुलबुले और सागर-तरंग की भाँति होता ही रहता है। यह मर्त्यलोक मरणाभिमुख है। कोई अनहोनी होने लगे तो उसका कोई शोक भी न करे, परंतु मिलकर टूटना, बनकर बिगड़ना, होकर न रहना, जन्म कर मर जाना तो जगत् का अवश्यंभावी नियम है। इसके लिए सोचना भी न चाहिए।'

क्या मिला होगा उस व्यक्ति को जिसने स्वामीजी को विष दिया था ? विदेशी डॉक्टर, वैद्य, पीरजी उनकी शोचनीय और कष्टप्रद अवस्था को देखकर काँप उठे थे।

उनकी सहनशीलता देख दंग रह गए थे। लिखना बहुत आसान होता है, पर भोगना ? यह तो अनुत्तरित प्रश्न है। किसी ने संकेत और किसी ने स्पष्ट शब्दों में कहा, 'इनको किसी कुलकंटक ने कालकूट विष देकर अपनी आत्मा को कालिख लगाई है।'

स्वामीजी को जाना था और वे चले गए। स्वामीजी की वाणी से कभी फूटता, 'संसार में संयोग और वियोग का होना स्वाभाविक है।'

'गुरुदत्त, लाहौर की कुशल-मंगल बताओ।' और शोकाकुल दीवार के सहारे टकटकी बाँध मौन खड़े थे। अपने गुरुदेव का अंतिम प्रयाण देख रहे थे। स्वामीजी ने अपने प्राणों को ब्रह्मरंध्र में ले जाकर प्रणव-नाद किया होगा तथा खुशी से कीमती चोले को, अपनी चदरिया को यहीं छोड़ दिया होगा और किसी ने उन्हें रोका भी नहीं होगा।

सभी की मुख-मुद्रा विलीन हो गई होगी। उनकी निर्जीव देह को चंदनादि सुगंधित पदार्थों से सुवासित किया गया होगा। रेशमी वस्त्रों में वेष्टित कर उन्हें पुष्पों, कदली-स्तंभों और कोमल पत्तों से सजी शिविका पर लिटा दिया गया होगा। उनकी अंतिम यात्रा में भक्तजन नंगे पैर सम्मिलित हुए होंगे।

रामानंदजी और गोपालगिरिजी वेदपाठ करते चल रहे थे। अजमेर नगर के आगरा द्वार से होते हुए कई बाज़ारों-चौकों को पार करते हुए नगर के बाहर दक्षिण द्वार में उन्हें अग्नि को समर्पित करने के लिए एक चौकी बनाई गई थी। दो मन चंदन, दस मन पीपल की समिधाओं से चिता बनाई गई। स्वामी रामानंद और आत्मानंदजी ने विधि-विधानपूर्वक अग्न्याधान किया। अग्नि-स्पर्श होते ही घृत-संचित चिता धू-धू कर जल उठी। चार मन घी, पाँच सेर कपूर और एक सेर केसर को भी चिताग्नि ने अपने भीतर समेट लिया। बाद में समयानुसार स्वामीजी की अस्थियों का चयन कर शाहपुर-नरेश द्वारा दिए गए उद्यान में उन्हें गाड़ दिया गया। आज भी वह उद्यान स्वामीजी की अस्थियों को अपने भीतर समेटे है।

इसी तरह 'कौन-सा दिन', 'कौन-सा वार', 'दरवाज़े-खिड़कियाँ खोल दो', 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते-कहते स्वामी दयानंद इस संसार से विदा हुए। उस संसार से जहाँ उन्होंने चैतन्य शिव के दर्शन किए थे, पाखंड की धज्जियाँ उड़ाई थीं, शिक्षा की पताका फहराई थी, विधवा-विवाह का समर्थन किया था और सतीप्रथा का विरोध किया था। आर्यों का समाज सुगठित किया था, आर्यभाषा का प्रचार किया था। मैं नहीं जानती कि आज के युग में लोग उनकी ज़िंदगी की महत्त्वपूर्ण तिथियाँ कितना जानते हैं, पर इतना ज़रूर जानती हूँ कि उन्हें जाने बग़ैर टूटते परिवेश को जोड़ा नहीं जा सकता। एक बार फिर उनके 'सत्यार्थप्रकाश' की ओर लौटना होगा, 'संस्कार-विधि' के सोलह संस्कारों को स्वीकारना होगा। तब कहीं जाकर स्वामीजी की इच्छा का अखंड भारत हमारे सामने तैयार होगा, अन्यथा नहीं।

साहित्यकार रूप

'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रगट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीड़ा देगा। अरे ! चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो, हम तो सत्य ही कहेंगे।...आत्मा का न तो कोई हथियार छेदन कर सकता है और न उसे आग जला सकती है।' यह कहकर वे गरजती हुई आवाज़ में बोले, 'यह शरीर तो अनित्य है। इसकी रक्षा में प्रवृत्त होकर अधर्म करना व्यर्थ है।...लेकिन वह सूरमा वीर पुरुष मुझे दिखाओ जो यह दावा करता है कि वह मेरी आत्मा का नाश कर सकता है। जब तक ऐसा वीर संसार में दिखाई नहीं देता, मैं यह सोचने के लिए भी तैयार नहीं हूँ कि मैं सत्य को दबाऊँ या नहीं।'

गर्जना करने वाले हैं स्वामी दयानंद और सुनने-सुनाने वाले हैं स्वामी श्रद्धानंद, जिन्होंने हँसते-हँसते सीने पर गोलियाँ खाई थीं। वे आगे जाकर उस भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं।

'मैंने केशवचंद्र सेन, लालमोहन घोष, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और एनी बेसेंट आदि सुप्रसिद्ध व्याख्याताओं के भाषण सुने हैं; पर मैं सच्चे दिल से कहता हूँ कि जो असर मुझ पर उस रोज़ के व्याख्यान ने किया और जो फ़साहत मुझे उस रोज़ के सादे शब्दों में मालूम हुई वह अब तक तो दिखाई नहीं दी। महाराज ने सत्य के बल पर बोलना आरंभ किया। पादरी स्कॉट को छोड़कर सब अंग्रेज़ सज्जन विद्यमान थे। कोई आदमी नहीं हिलता था। सब एकाग्र होकर चुपचाप भाषण सुन रहे थे।

'एक राजा बैंगन खाकर सभा में आए। उस दिन उन्हें बैंगन बहुत स्वादिष्ट लगे थे। सभा में आकर उन्होंने कहा कि बैंगन बड़े स्वादिष्ट होते हैं तो दरबारी कहने लगे कि महाराज, बैंगन तो शाकों का राजा है। देखिए, इसका वर्ण श्रीकृष्ण के वर्ण के समान है और सिर पर मुकुट है। रात्रि में उन्हें विकार हुआ, क्योंकि उन्होंने अधिक खा लिए थे। अतः अगले दिन सभा में आकर राजा ने बैंगन की बुराई की, तो चाटुकार दरबारी भाट कहने लगे कि महाराज, इन्हीं अवगुणों के कारण तो इसका वर्ण काला हो गया है और इसे यह दंड मिला है कि शाखा के नीचे लटकता रहे।'

'ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह न्यायकारी है। उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जाए तो

स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जाए ? पुरुष अपनी इच्छानुसार जितनी चाहे स्त्रियाँ कर सकता है, देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बंधन नहीं रहा। क्या यह अधर्म नहीं है ?

'देखो, कुछ सौ वर्ष के ऊपर इस देश में आए यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग वही कपड़े पहनते हैं जैसा कि स्वदेश में पहनते थे। उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्ध और वे बुद्धिमान ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान का काम नहीं।'

स्वामीजी की व्याख्यानमालाओं में से मैंने यह सब इसलिए उद्धृत किया है कि मैं यह मानती हूँ कि स्वामीजी अपने समय के एक ऐसे साहित्यकार थे जिनकी अनुभूति-अभिव्यक्ति ने न केवल तत्कालीन समाज पर प्रभाव छोड़ा, अपितु परवर्ती साहित्यकारों पर भी छाप छोड़े रहे। इस प्रकार के निर्भीक विचार केवल वही व्यक्ति प्रगट कर सकता है जिसने अपनी जान हथेली पर रख ली हो।

हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते समय पता नहीं क्यों इतिहासकारों का ध्यान स्वामी दयानंद की ओर नहीं गया ? पत्र-लेखन, आत्मकथा विज्ञापन के अतिरिक्त स्वामीजी ने जिन अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का प्रणयन किया उन्हें बिना पढ़े छोड़ दिया गया। यह खेद की बात है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी स्वामीजी को अपनी आँखों से ओझल रखा। मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, रामप्रसाद निरंजनी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की महिमा बखान करने, गोरों द्वारा फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना, लल्लू लाल और सदल मिश्र को ज़ोर-शोर से स्वीकारने, ईसाई प्रचारकों का योगदान मानने की भी बड़ी बात हो सकती है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि एक निडर साहित्यकार की उपेक्षा कर दी जाए। जिस व्यक्ति ने जीवन-भर यात्रा कर दार्शनिक विचारों को हिंदी में प्रस्तुत किया उसी हिंदी को पंडितों-पंडों और हिंदुओं की भाषा तथा उर्दू को मौलवी-मुल्लाओं की भाषा कहकर नज़रअंदाज़ कर दिया गया। ब्रिटिश सरकार, जो कि ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा पनपी, उसने हमेशा जनता को लड़ाने-भिड़ाने का काम किया।

इन इतिहासकारों के अतिरिक्त उन साहित्यकारों का भी अहित किया जो सिर्फ़ अपना उल्लू सीधा करना जानते थे। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में नियुक्त लल्लू लाल और सदल मिश्र ने क्रमशः प्रेमसागर नासिकेतोपाख्यान लिखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर ली और दूसरी ओर दुर्भाग्यवश राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद जैसे व्यक्ति विद्यालयों के निरीक्षक थे और अंग्रेज़ी शासकों की चापलूसी करना उनका परम धर्म था। वे भला स्वामीजी की वेद पढ़ने-पढ़ाने वाली बात को परम धर्म कैसे समझते !

आज स्वतंत्र भारत में हर तरह की गुटबाज़ी जिस तरह हमारे संस्कारशील साहित्य को जड़ से उखाड़ उसे मृत्यु को सौंपे जा रही है ठीक वैसा ही कार्य शिवप्रसाद सितारेहिंद ने किया। तभी हेनरी पिनकाट ने बाबू हरिश्चंद्र को 1884 में जो पत्र लिखा वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे उनकी धूर्तता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—'राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस वर्ष हुए, उसने सोचा कि अंग्रेज़ी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। इसलिए उसने बड़ी चाल से काव्य को और अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।' इससे बढ़कर अशोभनीय और क्या हो सकता है कि एक अंग्रेज़ भारतीय साहित्यकार के बारे में ऐसी टिप्पणी करे।

राजा लक्ष्मणसिंह की मान्यता थी कि संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही हिंदुओं की भाषा है और अरबी-फ़ारसीयुक्त उर्दू मुसलमानों की। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि लक्ष्मणसिंहजी ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखा।

इन परिस्थितियों में गुजराती-भाषी स्वामी दयानंद ने हिंदी अपनाकर यह सिद्ध कर दिया कि उनके हिंदी भाषा में लिखित ग्रंथ साधारण जनता को छू लेंगे। यही कारण है कि उन्हें सुनने और पढ़ने के लिए भारत के विशाल समुदाय ने हिंदी का अध्ययन किया।

'मुझे हिंदी का प्रचार करना है। उसे जन-जन तक पहुँचाना है।' यही सोचकर उन्होंने पत्र-व्यवहार तो हिंदी में किया ही, आर्यसमाज के सभी सभासदों को यह आदेश दिया कि वे लिफ़ाफ़ों पर हिंदी में ही पता लिखा करें। और उनके आदेश का पालन हुआ भी।

इतिहासकारों ने उन पर यह आक्षेप लगाया कि न तो उन्होंने कहानी-उपन्यास लिखे हैं और न ही नाटक-एकांकी, इसलिए उन्हें साहित्यकार के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसमें कोई संदेह नहीं कि वे नाटकों, प्रहसनों और रामलीलाओं के घोर विरोधी थे। लेकिन इसमें भी दो राय नहीं कि भारतेंदु हरिश्चंद्र के सुप्रसिद्ध नाटक 'अंधेर नगरी' का कथ्य दो वर्ष पहले (नाटक लिखे जाने से) स्वामी दयानंद अपनी पुस्तक 'व्यवहार भानु' में इस कथ्य का प्रयोग कर चुके थे। 'व्यवहार भानु' का प्रकाशन वर्ष सन् 1879। भारतेंदुजी ने यह नाटक क्यों लिखा, इसे स्पष्ट करते हुए श्री रामदीन लिखते हैं—'दक्षिण में पारसी और महाराष्ट्र नाटक वाले प्रायः 'अंधेर नगरी' का प्रहसन खेला करते हैं। ऐसा ही हिंदू नेशनल थियेटर ने भी खेलना चाहा था और भारतेंदुजी से अपना आशय प्रकट किया था। भारतेंदु जी ने उस कथा को काव्य में बाँध दिया।'[1]

1. भारतेंदु ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० 164

भारतेंदु नाटक को वहीं समाप्त कर देते हैं जहाँ लोग राजा को टिकटी पर खड़ा करते हैं, परंतु स्वामीजी उसको फाँसी लग जाने के बाद उसके छोटे भाई सुनीति को गद्दी पर बैठाते हैं और उसके 'सुराज' का वर्णन भी करते हैं—

'और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करने वाली राजसहित सभा और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राज संबंध में प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है।'[1]

यह बात कम लोगों को मालूम है कि समवेत स्वर में यही कहा गया भारतेंदु हरिश्चंद्र और 'अंधेर नगरी' एक-दूसरे के पूरक हैं। परंतु किसी ने भी 'व्यवहार भानु' के पन्ने उलटने का कष्ट नहीं किया, क्योंकि किसी ने भी उन्हें साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया। वे इस बात से आहत थे कि जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता उससे और क्या आशा की जा सकती है।

पत्र-लेखन हिंदी साहित्य की प्रमुख विधा है, जो संभवतः उस काल में भी पनप रही थी। आज की दुनिया में पत्र-लेखन को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करके उसे प्रशासनिक, व्यावहारिक और कामचलाऊ बना दिया गया है। तब स्वामीजी ने इसके गंभीर महत्त्व को समझा। व्यस्त होने के बावजूद वे समय निकालकर पत्र लिखा करते थे। मैं उनके एक-दो पत्रों द्वारा अपने मत को स्पष्ट करना चाहूँगी। उन्होंने अपने मित्र माधोलालजी को लिखा—

'महाशय माधोलालजी आनंदित रहो। आर्यसमाज के ठीक नियमों को समझकर आपको वेदांतानुसार सबके हित में अवश्य लग जाना चाहिए। विशेषता से अपने आर्यावर्त देश को सुधारने में अत्यंत श्रद्धा-प्रेम और भक्ति होनी चाहिए। सबको अपने समान जानकर उनके क्लेशों के काटने और सुखों को बढ़ाने के लिए प्रयत्न और उपाय करना उचित है। सबका हित करना ही परम धर्म है। इसी के प्रचार की वेद में आज्ञा पाई जाती है। —**दयानंद सरस्वती**

आज के साहित्यकार ईर्ष्या-प्रमादवश भले ही एक-दूसरे को पत्र न लिखते हों या किसी स्वार्थवश लिखते हों, या एक-दूसरे की टाँग खींचने के लिए लिखते हों, पर पत्र-लेखन तो एक ऐसी अद्‌भुत विधा है जिसमें व्यक्ति अपने हृदय को परत-दर-परत खोलता चला जाता है और प्यार का दरिया काग़ज़ों में समोता चला जाता है, नितांत निजी जीवन को भी उसमें खोलता चला जाता है। शायद 'मैं' उसमें पूरी तरह डूबा

---

1. दयानंद ग्रंथावली, शताब्दी संस्करण, पृ० 769

रहता है। इतना तो कविता-कहानी लिखने में भी नहीं होता। अस्तु !

स्वामीजी ने कई विषयों पर अनेक व्यक्तियों को संस्कृत, गुजराती, हिंदी, उर्दू में पत्र लिखे। सरल विषयों को सरल भाषा में और गंभीर विषयों के लिए वे वैसी ही भाषा प्रयुक्त किया करते थे। वेदार्थ के लिए उन्होंने अपने परम विरोधी राजा शिवप्रसाद को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है—

राजा शिवप्रसादजी, आनंदित रहो।

आपका पत्र मेरे पास आया। देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्वमीमांसा-पर्यंत विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ संबंधों को नहीं जाना है। इसलिए आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ। जो मेरे पास आ के समझते तो कुछ-कुछ समझ सकते। परंतु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो तो स्वामी विशुद्धानंद सरस्वती व बालशास्त्रीजी को खड़ा करके सुनिएगा तो भी आप कुछ समझ सकेंगे। भला विचार तो कीजिए कि आप उन पुस्तकों को पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में संबंध, क्या-क्या उनमें है और स्वतः प्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि-मुनिकृत ब्राह्मण पुस्तक है। इन हेतुओं में क्या-क्या सिद्धांत सिद्ध होते हैं और ऐसे हुए बिना क्या-क्या हानि होती है, इन विद्या-रहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नहीं समझ सकते।

(सं० 1936, सप्तमी, शनिवार, सन् 1879)

—**दयानंद सरस्वती**

'पाठशालाएँ खोलो। हिंदी में विज्ञापन दो। गुरुकुलों की स्थापना करो, ताकि वहाँ से शिक्षित विद्यार्थी निकलें और आर्य-पताका फहराएँ।' यही उनकी कर्मभूमि की विशेषता थी।

स्वामीजी की प्रेरणा से कई प्रतिष्ठित पत्रिकाएँ निकलीं, जिनमें 'आर्य दर्पण', 'आर्य भूषण', 'भारत-सुदशा प्रवर्तक' प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त 'कवि-वचन-सुधा' में स्वामीजी के विज्ञापन संस्कृत और आर्यभाषा में प्रकाशित हुए। हिंदी विज्ञापनों से हिंदी का सशक्तीकरण होता है। चारों वेदों के प्रकाशन हेतु उनका एक विज्ञापन दृष्टव्य है—

'चारों वेदों का भाष्य करने का आरंभ मैंने किया है। सो सब सज्जन लोगों को विदित हो कि वह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा, जो कि काशी-प्रयाग आदि मध्य देशों की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है। इसमें संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्यभाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसी सरल

है कि जिसको साधारण संस्कृत का पढ़ने वाला भी वेदों का अर्थ समझ ले तथा भाषा का पढ़ने वाला भी समझ लेगा।'

ऋग्वेदादि जैसे भाष्यों का विषय बहुत दुरूह रहा, लेकिन स्वामीजी ने उसे सरल शैली में प्रस्तुत किया। स्वामीजी गद्य-संसार के पुरोधा थे। कभी-कभी यह लगता है कि उनका गद्यकार रूप उनके शिक्षाविद् रूप से बहुत व्यापक-विशाल है। उन्होंने छोटे-बड़े अनेक प्रकार के तीस ग्रंथों की रचना की। सभी विविध विषयों के विविध रूप, लेकिन मुख्यतः 'संस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' जैसे ग्रंथ गंगा-यमुना और सरस्वतीवत् हैं और उनकी लिखी आत्मकथा उस नदी-तट के समान है जहाँ बैठकर भक्तजन उनकी उद्वेलित जीवन-गाथा को बाँचते चले जाते हैं—कभी सस्वर और कभी मौन भाव से। जैसा कि कहा जा चुका है कि उन्होंने अपने सभी ग्रंथ बोलकर लिखवाए हैं, अर्थात् सभी कुछ कंठस्थ। हमारे यहाँ कंठस्थ विद्या का अपना माहात्म्य है। विषय धर्म, अध्यात्म और समाज-सुधार से संबंधित। क्या इसी आधार पर सभी ने उन्हें उपेक्षित कर दिया है ? यह सवाल मेरे मन में बार-बार उठता रहता है। जब अन्य धार्मिक नेताओं को इतिहास में सम्मिलित किया जाता है तो स्वामीजी को क्यों नहीं ? मैडम ब्लैवेट्स्की के शब्दों में—

'शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे बड़ा तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर आक्रमण करने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो।'

इस प्रकार स्वामीजी द्वारा रचित ग्रंथ त्रिवेणी में अनेक निमज्जित हुए और भाँति-भाँति की मौक्तिक माल बना आर्यसमाज को भेंटस्वरूप समर्पित की।

जैसा कि मैंने कहा कि 'संस्कार-विधि', 'सत्यार्थप्रकाश' और 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' दयानंदजी के ऐसे ग्रंथ हैं जो अपने भीतर गंगा-यमुना को समेटे हुए हैं और एक पतित-पावन संगम का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि सत्य कहा जाए तो मेरुदंड में ये इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के समान हैं। इन्हें केवल आंतरिक नेत्रों द्वारा ही देखा जा सकता है। जब तक सत्यार्थ का प्रकाश अपने भीतर से अनुभव नहीं किया जाता, वह बाहरी तौर पर नहीं देखा जा सकता। इसी सत्यार्थ को ऋषि ने प्रकाशित किया है, सत्यार्थप्रकाश है। यह एक ऐसा प्रकाश है जिसमें उनके सभी ग्रंथ समाहित हो जाते हैं।

सबसे पहले मैं सत्यार्थप्रकाश की बात करती हूँ। यह एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें चौदह समुल्लास हैं। ईश्वर के एक से अनेक नामों का उल्लेख करते हुए वे उस युग के नामी धर्मों का खंडन-मंडन करते ही शिव के चैतन्य रूप का वर्णन करते हैं। जिसकी तलाश में वे टंकारा के शिवालय से लेकर पर्वतों, गुफ़ाओं, नदियों-नालों,

वैष्णवों-जैनों, ईसाइयों, कबीरपंथियों पर कुठाराघात करते विषपायी बन संसार तजने को बाध्य हो गए हैं। इसी में ही ईश्वर की इच्छा मानकर वे दूसरे धाम को चले गए थे।

इस ग्रंथ का पहला समुल्लास ईश्वर व उसके अनेक नामों से संबंधित है। अपनी जीवन-यात्रा में पड़ने वाले अनेक पड़ावों का मंथन करते हुए वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे वह यह था कि ईश्वर का निज का और बहुत प्यारा नाम 'ओ३म्' है। बाद के नाम धीरे-धीरे स्पष्ट होते जाते हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति संबंधों का निर्वाह करते हुए अपने नाना चरित्रों को जीकर पितामह, पिता, पुत्र, पति, भाई, जामाता आदि कई रूपों को सुशोभित करता है उसी प्रकार ईश्वर भी अपने नाना रूपों को विश्व-भर में प्रकाशित करता है।

आपने न केवल एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की, बल्कि पौराणिक नामों को नई प्रतिष्ठा दी। उन्होंने ज़ोरदार शब्दों में निर्भय होकर कहा, 'जिसका नाम ओ३म् है और जो कभी नष्ट नहीं होता, वही परमात्मा है।' चाहे इस परिभाषा को स्वीकार किया गया या नहीं, यह अलग बात है। यह स्पष्ट कर दिया कि परमात्मा होने की पहली शर्त है कि वह शाश्वत है, आदि-अंत में वह एक-सा ही रहता है और दूसरी शर्त है कि उसका नाम 'ओ३म्' है। जिसका नाम ओ३म् नहीं है वह परमात्मा नहीं हो सकता।

स्वामीजी ने एक और शंख फूँका कि ईश्वर संपूर्ण जगत् का मित्र और सखा है। वह किसी का भी शत्रु नहीं हो सकता। वह प्रीति करने योग्य है, इसलिए वह मित्र है। इसलिए मनुष्यों को केवल ईश्वर से ही प्रीति रखनी चाहिए, क्योंकि वह कभी भी किसी का शत्रु नहीं है। इनसान तो कभी मित्र और कभी शत्रु।

'वह परम शक्तिशाली, सबके ऊपर विद्यमान है, इसलिए वही ब्रह्म है और इसलिए सब मनुष्यों को उसे नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि वह ब्रह्म है, क्योंकि परम शक्तिशाली है, क्योंकि वह सबके ऊपर विद्यमान है, क्योंकि कोई भी प्राणी उसके तुल्य नहीं है।'

प्रचलित अर्थ में रुद्र भले ही शिवजी का पर्याय हो सकता है, पर स्वामीजी ने ईश्वर के रौद्र रूप का बखान करते हुए कहा है, 'दुष्ट कर्म करने वाले को जो रुलाता है वही रौद्र है। दुष्टों को हँसाने वाले को रौद्र कहा ही नहीं जा सकता।'

यूँ तो वायुयान में बैठकर मनुष्य चंद्रलोक तक पहुँच चुका है। वहाँ जीव है या नहीं, इसके बारे में भी कोई निष्कर्ष नहीं निकला। स्वामीजी के शब्दों में, 'जो आनंदमय प्रभु दूसरों को आनंद देने वाला है वही प्रभु चंद्र है।'

'वह कैसे ऋषिवर ?'

'वत्स ! दूसरों को वही आनंद दे सकता है जो स्वयं आनंदपूरित हो। जिसने खुद

आनंद को नहीं जाना, वह आनंद दे ही नहीं सकता। इसलिए वह चंद्र नहीं हो सकता।'

एक-एक करके स्वामीजी हृदय-कमल की पंखुरियाँ खोलते चले जा रहे थे और प्रकाश फैलता चला जा रहा था। थोड़ी-थोड़ी देर बाद एक और पंखुरी खुलती चली जा रही थी और ईश्वर के बारे में जानकारी मिलती चली जा रही थी।

'जल और जलचरों में निवास करने वाले प्रभु को ही नारायण कहते हैं।' भगवान् के नारायण रूप की परिकल्पना ही उन्होंने बदल डाली थी। मोक्ष प्राप्त करने के लिए बार-बार उसका स्मरण करना होगा। एक बार कहने से काम नहीं चलेगा। उनकी बात कुछ समझी गई और कुछ बिना समझे रह गई। स्वामीजी को बहुत कुछ कहना था, इसलिए कहते चले गए। पारंपरिक मान्यताओं पर प्रहार कर कुछ नया कहने की क्षमता थी उस व्यक्ति में।

'वह बोधस्वरूप प्रभु, सब जीवों के लिए बोध का कारण इसलिए वह बुद्ध है।'

'और वह बुद्ध ग्रह ?'

'ऐसा कुछ नहीं है। केवल बोधगम्य ही बुद्ध हो सकता है, उसके अतिरिक्त कुछ और नहीं।' उन्होंने अपने शिष्य को समझाते हुए कहा।

स्वामीजी ने यज्ञोपवीत को भले ही परम पवित्र स्वीकार किया हो, लेकिन ईश्वर को भी परम पवित्र माना है, क्योंकि उसका संग कर लोग पवित्र हो जाते हैं। इसलिए उस ईश्वर का नाम शुक्र है। क्योंकि वह पवित्रतम है। वह शुक्र ही इसलिए है, क्योंकि उसका साथ व्यक्ति को पवित्र बना देता है।

'वह ईश्वर शनि है, क्योंकि वह धैर्यवान् है, सहज प्राप्य है।'

'दुष्टों को छोड़ने और दुष्टों से छुड़ाने वाला भी ईश्वर है, इसलिए वह राहु है।

'जो सब जगत् का निवास-स्थान, रोग-रहित मुमुक्षुओं को मुक्ति-समय में सब रोगों से छुड़ाता है, इसलिए वह केतु है।'

'समस्त सृष्टि को प्रकाशित करता और जीवन देता है, इसलिए वह सूर्य है।'

ग्रहों-नक्षत्रों की यह अद्भुत व्याख्या उस समय के पंडितों, पुरोहितों, यजमानों, मठाधीशों को रास नहीं आई। लेकिन स्वामीजी अपनी वाणी को निरंतर प्रवाहित करते जा रहे थे। उनका मानना और कहना था कि 'लोक-लोकांतरों को नियमों में आबद्ध करके सहोदर के समान सहायक होने से वह ईश्वर बंधु है। वह ब्रह्मा से लेकर ऋषि-मुनियों तक का पूज्य है, इसलिए यज्ञ है। वह देने योग्य पदार्थों का ही दाता है, इसलिए वह यज्ञ है, होता है। वही सबको नानाविध अन्यायों से पृथक् कर सब प्राणियों को कर्मफल देने वाला है, इसलिए वह यम है। किसी प्राणी-विशेष पर सवार होकर मृत्यु देने वाला यम नहीं है। उत्पत्ति और प्रलय से बचा रहता है, इसलिए वह शेष है। सभी ऐश्वर्ययुक्त सृष्टि का स्वामी है, भजने योग्य होने से भगवान्, उत्पत्ति

और प्रलय से बचे रहने से शेष, कल्याण-स्वरूप होने से शिव, सभी विद्याओं के उपदेष्टा होने से कवि, सत्याचार के ग्रहण कराने से आचार्य और संतानों का सुख चाहने से वह माँ है।

इस प्रकार का कथ्य ब्राह्मण-पुरोहित, राजा-महाराजा, आर्यसमाज के सभासद सभी श्रवण कर रहे थे, परंतु किसी को कुछ समझ नहीं आया।

'क्या कभी मेरी बातों को लोग समझ पाएँगे ?' दयानंद सोचते। इसके सिवा कुछ कर भी नहीं सकते थे वे। बस केवल होंठों से उच्चारण करते थे। नाम लेते थे आपके ग्रंथों का। धीरे-धीरे नाम लेना भी बंद हो गया और वे पुस्तकें अलमारी में बंद हो गईं। यदि कुछ दीमक का आहार बनने से बच गईं तो मेरे जैसे जिज्ञासु उन्हें थोड़ी-बहुत देर के लिए पढ़ते और फिर बंद करके रख देते। अपनी जिज्ञासाओं को शांत करते-करते पता नहीं कोई कहाँ खो गया। मैं भी नहीं जानती। स्वामीजी की गंभीर दार्शनिक विचारधाराओं की थाह पाई जा सकेगी ? यह भविष्य ही बताएगा।

लॉर्ड मैकाले का शिक्षा-सूत्र जो था सो था। पर उसे जिस ढोल-धमाके और बाजे-गाजे के साथ प्रचारित किया गया, विशेषकर शैक्षणिक और सामाजिक जगत् में, उससे संपूर्ण विद्यार्थी-समाज का घोर अहित हुआ। पीढ़ी-दर-पीढ़ी मानसिक रूप से गुलाम होती गई। यदि उसकी शतांश शक्ति स्वामीजी की शिक्षा-पद्धति को प्रचारित करने में लगी होती तो संभवतः युवा सैन्य बल इसे खदेड़कर फेंक देता। स्वामीजी एक आदर्श साहित्यकार और शिक्षाविद् थे। उन्होंने पारिवारिक व्यवस्था पर घोर आक्रामक शैली में लिखा—

'वे माता-पिता अपनी संतान के बैरी हैं जो अपनी संतान को शिक्षा नहीं देते। धन से भी, तन से भी और मन से भी। राजाओं का यह धर्म है कि वे उन लोगों को दंडित करें जो संतान को शिक्षित नहीं करते।' उनकी कठोर आज्ञा का पालन यदि किया गया होता तो आज का शिशु-वर्ग न तो उच्छृंखल होता और न ही बात-बात के लिए माता-पिता का नाकों दम करता।

स्वामीजी की शिक्षा-प्रणाली अद्‌भुत थी, जिसका सूक्ष्म विवेचन 'सत्यार्थप्रकाश' में दिखाई देता है।

'पाँच-पाँच वर्ष के लड़के-लड़कियों को देवनागरी अक्षरों का ज्ञान कराया जाए। उससे पूर्व माता-पिताओं को चाहिए कि वे अपनी संतानों को गंभीर और शिष्ट बनाएँ। माता-पिता, बड़ों, विद्वानों और गुरुजनों के समक्ष बैठने की शिक्षा दें। राजाओं-विद्वानों आदि द्वारा दिए गए भाषणों को कंठस्थ कराएँ। क्रीड़ा, रोदन, हास्य, हर्ष, शोक, ईर्ष्या, द्वेष आदि से दूर रखें। तत्पश्चात् अतिथि, बंधु-बांधव और मृत्यु से बातचीत करने का तरीका सिखाएँ। सामान्य शिष्टाचार के बाद निघंटु, निरुक्त,

अष्टाध्यायी कंठस्थ करा उसका अर्थ बताएँ।

इस सब अनुशासनबद्ध तरीकों से अध्ययन कराने के तत्पश्चात् माता-पिता अपनी संतानों को आचार्यों को सौंप दें। स्वामीजी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रबल पक्षधर थे। यदि कभी पाठशाला में पढ़ाने की आवश्यकता आन पड़े तो ग्राम से पाठशाला कम-से-कम चार कोस की दूरी पर होनी चाहिए। लड़कियों को विदुषी स्त्रियाँ और लड़कों को विद्वान् आचार्य अध्यापन करें। जो यज्ञोपवीत धारण न करें उनसे शिक्षा नहीं दिलानी चाहिए। दुष्टाचारियों से कदापि शिक्षा न दिलाएँ। शिक्षकों को चाहिए कि वे दर्शन, स्पर्शन, एकांत सेवन, एकांत भाषण, विषय, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और विषय का संग आदि से दूर रहें। उन्हें यह भी चाहिए कि माता-पिता और बच्चों को इस दौरान न तो मिलने दिया जाए और न ही पत्र-व्यवहार करने दिया जाए। भ्रमण करते समय भी विद्यार्थियों के साथ-साथ अध्यापक रहें। सभी को तुल्य वस्त्र, भोजन और आसन दें। राजकुमार और साधारण विद्यार्थी में किसी भी प्रकार का भेदभाव न करें। यज्ञ-संध्यादि मंत्रों को भी कंठस्थ कराया जाए।

कठोर अनुशासन में रहकर चार वर्ष के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थियों को अध्यापन करें। एक-एक वेद पर बारह वर्ष अध्ययन करें-कराएँ। उन्हें सांगोपांग पढ़ाया जाएं। प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी एक वर्ष में अष्टाध्यायी, महाभाष्य, व्याकरण छंद ग्रंथ और श्लोक रचना विधि सिखाई जाए। इन सभी वेदों तथा अन्य ग्रंथों के पश्चात् आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहिए। लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य; शरीर-देश-काल वस्तु का अध्ययन चार वर्ष तक करें, साथ ही चरक, सुश्रुत ग्रंथों का अध्ययन भी करें।

आयुर्वेद अध्ययन के पश्चात् राजकुमारों को विशेष रूप से राजा-प्रजा संबंधी शिक्षा दी जाए। अस्त्र-शस्त्र विद्या और व्यूहों का अभ्यास कराया जाए। श्रेष्ठों का पालन और दुष्टों के लिए दंड-विधान की शिक्षा भी उन्हें दी जाए। राजविद्या को दो वर्ष सीखकर तत्पश्चात् गांधर्व वेद और गायन विद्या का अध्ययन करें। स्वर, राग, रागिनी, समय, ताल, ग्राम तान वादन, नृत्य, गीत आदि सीखें और विशेष रूप से साम-गान सीखें।

तत्पश्चात् शिल्प-विद्या, क्रिया-कौशल, ऐश्वर्य बढ़ाने वाले नानाविध पदार्थों का निर्माण करें। उसके पश्चात् सूर्य-सिद्धांत, ज्योतिष, बीजगणित, अंकगणित, भूगोल, खगोल, भूगर्भ विद्या सीखें। उसके बाद हस्त या यंत्र कला, ग्रह-नक्षत्र, जन्म-पत्र, राशि-मुहूर्त आदि फल के विधायक ग्रंथों को बीस वर्षों में पढ़ें। स्वामीजी ने स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया है। राजपुरुषों की स्त्रियाँ भी धनुर्वेद की ज्ञाता हुआ करती थीं।

इस प्रकार गंभीरतापूर्वक अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्ति को जीवन-क्षेत्र में

प्रवेश करना चाहिए। काश कि इन शिक्षाओं को ध्यान से पढ़ा जाकर उस पर अमल किया जाता।

इसी प्रकार स्वामीजी ने विवाह के लिए समान गुण-व्यवहारादि पर बल दिया है; क्योंकि उनकी कल्पना का सुखद गृहस्थ कुछ और ही था। उन्होंने दो बातों पर विशेष बल दिया। पहली यह कि चाहे कोई परिवार कितने ही धन-धान्य, गाय-अजा, हाथी-घोड़े राज्यादि से समृद्ध हो, तब भी अनमेल विवाह नहीं करना चाहिए और निम्न कुलों का त्याग करना चाहिए—

सत्क्रिया से हीन, सत्पुरुषों से रहित, वेदाध्ययन से विमुख, शरीर पर बड़े-बड़े लोम, बवासीर, क्षयी, दमा-खाँसी, आमाशय, मिरगी, श्वेत कुष्ठ, गलित कुष्ठ युक्त कुलों की कन्या या वर के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

दूसरी बात यह कि दान की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने आदेश दिया—

'संसार के सभी दान जल, अन्न, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घृत आदि से वेद-विद्या का दान ही सर्वश्रेष्ठ है। तन-मन-धन से विद्या का दान करें। यूँ ही मूँगा-मोती, स्वर्ण-चाँदी धारण कर देहाभिमानी बन इठलाते न फिरें।'

उन्हें क्या पता था कि वेद-विद्या का दान न कोई देने वाला होगा और न कोई लेने वाला।

शायद ही कोई ऐसा पक्ष होगा जिसे स्वामीजी ने अनदेखा किया हो।

'कन्या शिशुओं के सुंदर नाम रखने चाहिए, क्योंकि नामों का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। भरणी, रोहिणी आदि नक्षत्रों; तुलसी, गेंदा आदि फूलों; गंगा, यमुना आदि नदियों; पार्वती, विंध्या आदि पर्वतों; कोकिला, मैना आदि पक्षियों; दासियों आदि के नाम नहीं रखने चाहिए। सुखदा, यशोदा जैसे कोमल, सुंदर नाम ही कन्याओं को देने चाहिए।'

'अधर्माचरण धीरे-धीरे सुख के मूल को नष्ट करता रहता है।'

'जब तक उत्तम अतिथि नहीं होते तब तक उन्नति नहीं होती।'

स्वामीजी की विषय-वस्तु अत्यंत व्यापक है। कहीं वे आतिथ्य पर बल देते हैं और कहीं राजधर्म की शिक्षा देते दिखाई पड़ते हैं। कहीं वे राजा-प्रजा के संबंधों पर अपनी राय देते हैं, कहीं उचित रूप से सेनापतियों, सभासदों और राजाओं के लिए कर्तव्य निर्धारित करते दिखाई देते हैं। राजाओं को मृगया, चरस, गाँजा, भंग से दूर रहना चाहिए। भूमि, जल और आकाश मार्ग के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। ऐसा नहीं कि शत्रु हमारी सीमा फलाँग गोलाबारी कर अपने देश लौट भी जाए और हमारे देश की सेना सोती रह जाए। उन्होंने स्पष्ट कहा कि सेनापतियों, सभासदों को चारों वेदों का ज्ञाता होना चाहिए।

जिस आर्यावर्त की परिकल्पना स्वामीजी करते हैं उसमें केवल शांति ही अपेक्षित है। ब्रह्मचर्य से लेकर संन्यास तक सभी को अपने धर्म की रक्षा करनी है। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में तपना है। गृहस्थ को ब्राह्म, दैव, आर्य, प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस, पैशाच आदि आठ प्रकार के विवाहों द्वारा अपनी गृहस्थीय मर्यादा का निर्वाह करना है। विवाह पूर्व वर-वधू को एकांत स्थान में नहीं मिलना है। अध्यापकों की उपस्थिति में माता-पिता अथवा आचार्य के यहाँ विवाह का आयोजन करना चाहिए। वानप्रस्थियों को वन में जाकर स्थिर होना है, पवित्रतापूर्वक योगाभ्यास और तपश्चर्या करनी है, वन में भ्रमण कर प्रकृति से नाता जोड़ना है। संन्यासियों को भिक्षुक रूप धारण कर निरंतर मोक्ष-प्राप्ति में व्यस्त रहना है।

न्याय परीक्षा निमित्त स्वामीजी ने जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने लाने की कोशिश की, वह यह कि अपराधी को दंडित करने के लिए साक्षियों की प्रतीक्षा न की जाए और न ही इसकी आवश्यकता है; क्योंकि जितने बलात्कार, काम चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन दंडनिपातन रूप अपराध हैं वे सब गुप्त रूप से किए जाते हैं। उन्होंने ठोक-बजाकर कहा—

'इन सब कुकर्मों को किसी के सामने नहीं किया जाता। इसलिए साक्षी की बात करना अत्यंत मूर्खतापूर्ण है। इसलिए राजा को चाहिए कि चोर जिस-जिस अंग से मनुष्यों में विरुद्ध चेष्टा करता है उस-उस अंग को सब मनुष्यों की शिक्षा के लिए राजा छेदन कर दे।' एक चुनौतीपूर्ण कार्य, जो कि राजा के लिए निश्चित किया गया है वह यह है कि 'धर्म और ऐश्वर्य की इच्छा करने वाला राजा बलात्कार काम करने वाले डाकुओं को दंड देने में एक क्षण भी देरी न करे।'

'जो स्त्री जाति-गुण के घमंड से पति को छोड़ व्यभिचार करे राजा उसको बहुत-बहुत स्त्री और पुरुषों के सामने कुत्तों से कटवाकर मरवा डाले।'

'उसी प्रकार जो पुरुष अपनी स्त्री को छोड़ के परस्त्री या वेश्यागमन करे, उस पापी को लोहे के पलंग को अग्नि से तपाकर लाल कर उस पर सुला के जीते को बहुत पुरुषों के सम्मुख भस्म कर देवे।'

'जिस राजा के राज्य में न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचन का बोलने वाला, न डाकू और न राजा की आज्ञा का भंग करने वाला है, वही राजा श्रेष्ठ है।'

'राजा का यह परम धर्म है कि वह प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों पर हाथी-घोड़े आदि वाहनों को, लाभ-हानि और ख़ज़ाने को देखा करे।'

'यदि ख़र्च ज़्यादा हो तो ?'

'जो राजा आय से ज़्यादा ख़र्च करे उसे भी दंडित करना चाहिए।' स्वामीजी का विचार था।

'राजा को सभा दंड दे। क्योंकि राजा भी पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है। यदि उसे ही दंड न दिया जाए और वही दंड न माने तो दूसरे मनुष्य ही दंड को क्यों मानेंगे ?'

यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर आज के संदर्भ में हर मंत्री को देना ही होगा। यदि राजा ही घोटाले रचाएगा तो देश में चोर-डाकुओं का आधिपत्य होगा ही।

'जो-जो नियम राजा और प्रजा के लिए सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन-उन नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बाँधा करे। यह ध्यान रखा जाए कि बाल्यावस्था में विवाह न करने दें। व्यभिचार और बहु-विवाह को बंद करें।'

'राजा तो ईश्वर का अवतार है। उसे क्यों दंडित किया जाए ?'

'वह ईश्वर का अवतार नहीं है। अवतार मान लिया जाता है। वह भी सौभाग्यशाली व्यक्ति है अन्य मनुष्यों की तरह।'

'पता नहीं मेरी बात कोई समझेगा या नहीं। परंतु मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि ईश्वर दयालु और न्यायकारी एक साथ नहीं हो सकता। यदि वह दया करता है तो न्याय छूट जाता है और यदि वह न्याय करता है तो दया छूट जाती है। जिसने जैसा बुरा कर्म किया हो उसे वैसा ही दंड मिलना चाहिए। ईश्वर की एकमात्र पूर्ण दया तो यह है कि उसने सभी जीवों के निमित्त जगत् में सकल पदार्थ उत्पन्न कर दान में दे रखे हैं—जल, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चंद्र व अन्य वस्तुएँ। परमेश्वर तो सभी की भलाई चाहता है। इसलिए अलग-अलग प्राणियों के लिए अलग-अलग खाद्य पदार्थों की सृष्टि की है। जलचर, आकाशचर और भूमि पर रहने वाले प्राणियों की आवश्यकतानुरूप व्यवस्था करना ही ईश्वर की दया है।

'बार-बार ईश्वर की स्तुति पर बल देता हुआ मैं सुख के दाता, आनंदस्वरूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ कि वह प्राणिमात्र को पवित्र करे; श्रेष्ठ मार्ग में संपूर्ण प्रज्ञानों को प्राप्त कराए और कुटिल पापाचरण रूप मार्ग से पृथक् करे।'

ऐसी प्रार्थना ईश्वर से कभी नहीं करनी चाहिए कि तुम हमारे शत्रुओं का नाश कर सब कुछ हमारे अधीन कर दो। ईश्वर ऐसी प्रार्थना कभी स्वीकार नहीं करता और न ही वह मूर्खतापूर्ण प्रार्थनाएँ स्वीकार करता है। यदि कोई यह प्रार्थना करे कि हे परमेश्वर ! आप हमें रोटी बनाकर खिलाइए, मकान में झाड़ू लगाइए, वस्त्र धो दीजिए और खेती-बाड़ी भी कीजिए, तो परमेश्वर उसकी मूर्खता पर हँसेगा। पूर्ण ज्ञानी ईश्वर को यह मालूम है कि कब, किसे, क्या चाहिए। इसलिए वह अपने शक्तिरूप हाथ से सबकी इच्छाएँ पूर्ण करता है।

किसी भक्त के मुख से यह प्रश्न निकला कि 'ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है या नहीं ?'

'कदापि नहीं। जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाए। सब मनुष्य महापापी हो जाएँ। पाप करते रहें और क्षमा पाते रहें। इसलिए सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं।'

एक अरब छियानबे करोड़, कई लाख और कई सहस्त्र वर्ष पूर्व हुई जगत् की उत्पत्ति के बारे में स्पष्ट करते हुए स्वामीजी का मानना है कि सृष्टि की उत्पत्ति के साथ ही वेदों का प्रकाश हुआ था। सृष्टि का सबसे सूक्ष्म टुकड़ा काटा नहीं जा सकता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं के मिले हुए का नाम अणु, दो अणुओं का द्वचणुक, तीन द्वचणुक का अग्नि, चार द्वचणुक का जल और पाँच द्वचणुक की पृथ्वी आदि पदार्थ बनाए गए हैं।

'जो लोग शेष सर्प, बैल की सींग और कछुए की पीठ पर पृथ्वी को स्थित बतलाते हैं उनसे पूछना चाहिए कि पशुओं के माता-पिता के जन्म के समय पृथ्वी कहाँ टिकी थी और दूसरी बात यह कि ये पशु कहाँ टिके हैं ? बैल वाले मुसलमान तो चुप हो जाएँगे, परंतु सर्प वाले कहेंगे कि सर्प कूर्म पर, कूर्म जल पर, जल अग्नि पर, अग्नि वायु पर और वायु आकाश में ठहरा है। कश्यप मरीचि, मरीचि मनु, मनु विराट् और विराट् ब्रह्मा का पुत्र, ब्रह्मा आदि सृष्टि का जनक। जब शेष के जन्म से पूर्व पाँच पीढ़ियाँ हो चुकी थीं तब पृथ्वी किसने धारण की थी ? अर्थात् कश्यप के जन्म के समय में पृथ्वी किस पर थी ?'

'और यह आर्यावर्त क्या है ?' वत्स ने जिज्ञासा की।

'आर्य नाम विद्वान् का और इससे विपरीत जनों का नाम दस्यु था। देवासुर संग्राम में देव विजयी और असुर पराजित हुए थे। आर्यावर्त के बाहर चारों ओर जो हिमालय के पूर्व आग्नेय, दक्षिण, नैर्ऋत, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान देश में रहने वाले मनुष्य ही असुर हैं। जो आर्यावर्त देश से भिन्न हैं वे दस्यु देश और म्लेच्छ देश कहाते हैं। आर्यावर्त की सूध पर नीचे रहने वालों का नाम नाग और उस देश का नाम पाताल इसलिए कहते हैं, क्योंकि वे देश आर्यावर्तीय मनुष्यों के पाद तले हैं। वहाँ नाग नाम वाले पुरुष के वंश के राजा होते थे। उसी की राजकन्या उलूपी से अर्जुन का विवाह हुआ था। इसमें यह कहा जा सकता है कि ब्रह्मा का पुत्र विराट्, विराट् का मनु, मनु के मरीचादि दस, इनके स्वायंभुवादि सात राजा और उनकी संतान इक्ष्वाकु आदि राजा जो आर्यावर्त के प्रथम राजा हुए उन्होंने ही आर्यावर्त बसाया है।'

वत्स–'अब के आर्य राजा कौन हैं ?' उसके स्वर में विनम्रता थी।

'अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों की तो बात ही क्या, आर्यावर्त में भी आर्यों का अखंड, स्वतंत्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का

कष्ट भोगना पड़ता है। स्वदेशी राज्य ही सर्वोपरि और उत्तम है। इसलिए जो कुछ वेदादि शास्त्रों में लिखा है उसी का सम्मान करना ही भद्र पुरुषों का काम है।'

ऋषि कुछ समय के लिए मौन हो गए और वत्स किसी गहरी सोच में डूब गया। जिस समय ऋषि आर्यावर्त की बात कह रहे थे उस समय वत्स सूर्य और चाँद की दुनिया में खोया हुआ था। उसके मन में तरह-तरह के सवाल उमड़ रहे थे। ऋषि से एक बार फिर पूछा उसने—

'गुरुदेव ! सूर्य, चंद्र और तारे क्या वस्तु हैं ? उनमें मनुष्यादि सृष्टि है या नहीं ?'

ऋषि ने एक बार आकाश की ओर देखा और अपने मेधावी छात्र की जिज्ञासा शांत करते हुए कहा, 'ये सब भूगोल लोक हैं और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है; क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चंद्र और सूर्य, नक्षत्र का वसु नाम इसलिए है क्योंकि इनमें सब पदार्थ और प्रजा बसती है और ये ही सबको बसाते हैं। परमेश्वर का यह छोटा-सा लोक मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो ये सब लोक भी इससे शून्य नहीं हो सकते।'

अपनी बात को समापन की ओर ले जाते हुए गुरुदेव ने वत्स की पीठ थपथपाकर कहा—

'जैसे राजा के अधीन प्रजा होती है वैसे ही परमेश्वर के अधीन जीव और जड़ पदार्थ हैं। इसलिए जीव कर्म करने में स्वतंत्र परंतु कर्मों के फल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतंत्र है।'

गुरु वाचन और शिष्य श्रवण में व्यस्त थे।

रात्रि से सुबह तक वत्स गहरी नींद में सोया, क्योंकि उसकी जिज्ञासा शांत हो चुकी थी। लेकिन सुबह उठते ही नई अतृप्ति। सूर्य अपने रथ पर सवार हो आकर आगे बढ़ चुका था। पक्षी भी चहचहाने के बाद वृक्षों पर जा बैठे थे। गुरुदेव ध्यानादि से उठकर अध्ययन में व्यस्त थे और वत्स संध्या-वंदन के पश्चात् अपना आसन ले गुरु के समीप पहुँच गया।

वह सोच रहा था सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के बारे में। उसने शंका प्रस्तुत की—

'गुरुदेव ! जन्म एक है या अनेक ?'

'अनेक ।' ऋषि ने उत्तर दिया।

'तब पूर्व-जन्म और मृत्यु की बातें स्मरण क्यों नहीं रहतीं ?'

'देखो बेटे ! जीव अल्पज्ञ है, इसलिए वह स्मरण रख ही नहीं सकता। पूर्व-जन्म की तो बात ही दूर, इस जन्म की भी एक से पाँच वर्ष तक की बचपन में घटित बातें याद नहीं रख सकता। यदि तुमसे कोई पूछे कि दस वर्ष, दसवें मास की दसवीं तारीख

को सुबह तुम क्या खा रहे थे, तो तुम्हें बिलकुल याद नहीं होगा। यदि स्मरण नहीं होता है तो इसी में जीव सुखी है। नहीं तो सभी जन्मों के दुःखों को देख-देख पीड़ित होकर मर जाता। जो कोई पूर्व और पीछे जन्म के वर्तमान को जानना चाहे तो भी नहीं जान सकता, क्योंकि जीव का ज्ञान और स्वरूप अल्प है। यह बात ईश्वर के जानने योग्य है, जीव के नहीं।'

वत्स को कुछ ज़्यादा समझ में नहीं आया। उसने पूछा, 'सभी को सुख-दुःख एक-सा है। बड़े को बड़ा और छोटे को छोटा दुःख। क्या थोड़ी देर के लिए यह सुख-दुःख बदला नहीं जा सकता ?'

'ये सब मूर्खतापूर्ण बातें हैं। अज्ञानी ही ऐसी बातें करते हैं। यदि किसी साहूकार से कहें कि तू कहार बन जा और कहार से कहें कि तू साहूकार बन जा, तो ऐसा कभी नहीं हो सकता; क्योंकि सभी साहूकार बनना चाहेंगे, कोई भी कहार बनना नहीं चाहेगा।

'एक बात और। एक जीव विद्वान् पुण्यात्मा श्रीमान् राजा की रानी के गर्भ में आता है और दूसरा महादरिद्र घसियारी के गर्भ में। एक को गर्भ से लेकर सर्वथा सुख और दूसरे को सब प्रकार दुःख मिलता है। जब वह दूध पीना चाहता है तो उसके साथ मिस्री आदि मिलाकर यथेष्ट मिलता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए नौकर-चाकर, सवारी, खिलौने आदि से लाड़ लड़ाकर आनंद की बातें की जाती हैं। दूसरे का जन्म जंगल में होता है, स्नान के लिए जल भी नहीं मिलता। जब दूध पीना चाहता है तब दूध के बदले में घूँसा, थपेड़ा आदि से पीटा जाता है। अत्यंत आर्त स्वर में रोता है। इसलिए पूर्व-जन्म के पुण्य-पापानुसार वर्तमान जन्म और भविष्यत् जन्म होते हैं।'

जन्म-जन्मांतरों के सुख-दुःख की बात अभी चल ही रही थी कि वत्स के हृदय में मृत्यु की बात उपज आई। मृत्यु और मोक्ष दोनों साथ-साथ चल रहे थे। उसका अगला प्रश्न था—

'मुक्ति एक जन्म में होती है या अनेक जन्मों में ?'

'अनेक जन्मों में। जिसे तुम मुक्ति मानते हो वह मुक्ति नहीं, जीव का प्रलय है। मुक्ति में जीव अलग रहता है ईश्वर से। इस प्रलयावस्था को प्राप्त करने के लिए भी व्यक्ति को परमेश्वर की आज्ञापालन, उत्तम कर्म, सत्संग, योगाभ्यास करना चाहिए।'

ऋषि ने फिर कहा, 'स्वभाव से सभी जीव सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुःख से दूर रहना चाहते हैं; परंतु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक न तो उन्हें सुख मिल सकता है और न ही वे दुःख से छूट सकते हैं। जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि का दुष्ट कर्म करता है उसको वृक्षादि

स्थावर का जन्म, वाणी से किए पाप-कर्मों से पक्षी और मृगादि तथा मन से किए गए दुष्ट कर्मों से चांडाल आदि का शरीर मिलता है। सत्त्व, रज, तम की स्थितियों से गुज़रते हुए व्यक्ति जब आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापों से मुक्ति प्राप्त करता है, तभी उसका श्रेष्ठ पुरुषार्थ होता या माना जाता है।

'पुरुषार्थ तो विद्या से प्राप्त होता है। जब तक विद्या नहीं होगी तब तक पुरुषार्थ नहीं होगा। विद्या-विज्ञान रहित सौ वर्ष का व्यक्ति भी बालक के समान है। अधिक वर्षों के होने, सफेद बालों के होने, अधिक धन और बड़े कुटुंब से कोई व्यक्ति वृद्ध नहीं हो जाता। कम आयु वाला विद्वान् व्यक्ति ही वृद्ध कहलाने योग्य है।'

'श्रीकृष्ण और अर्जुन अश्वतरी (अग्नियान नौका) पर सवार होकर महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में पाताल से उद्दीलक ऋषि को ले आए थे। उस समय भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव चारों दिशाओं के राजाओं-महाराजाओं को निमंत्रण देने गए थे।'

जिन पंडितों ने सागर पार जाने वालों को जाति से बहिष्कृत कर दिया या उन्हें अछूत करार दिया उन पोंगा पंडितों पर स्वामीजी ने जमकर प्रहार किया। 'सत्यार्थप्रकाश' के प्रथम दस समुल्लासों में अध्यात्म और अंतिम चार समुल्लासों में खंडन-मंडन, वह भी हिंदी को अपनाकर। दयानंदजी गुजराती-भाषी थे और वे निरंतर संस्कृत भाषा में ही बोला करते थे, इसलिए उनकी हिंदी पर संस्कृतनिष्ठता का भरपूर प्रभाव दिखाई देता है। वे तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया करते थे, तद्भव का बहुत कम। भारतेंदु हरिश्चंद्र तद्भव शब्दों का प्रयोग करते थे और शिवप्रसाद सितारेहिंद उर्दू शब्दों के पक्षधर थे। जैसा कि मैं कह चुकी हूँ कि वे अंग्रेज़ों को खुश करने में लगे रहते थे और उनका यही एक काम था।

स्वामीजी को सर्वपुनरपि, पुरश्चरण, पाषंड आदि शब्द बहुत प्रिय थे। इनका वे बहुलता से प्रयोग किया करते थे। इस प्रकार स्वामीजी की हिंदी भाषा पर संस्कृत और गुजराती का भरपूर प्रभाव रहा। इसके अतिरिक्त कुरान और मुस्लिम धर्म का खंडन करने के लिए 'मज़हब' और 'फ़रिश्ता' जैसे उर्दू शब्दों का प्रयोग करने में भी उन्होंने उदारता का परिचय दिया है। मथुरा उनकी अध्ययन-भूमि रही है, इसलिए उनके व्याख्यानों और लेखन में ब्रजभाषा भी प्रचुर रूप में पनपी है। जीवन-भर यात्रा करते रहने से उनके साहित्य में आम बोलचाल के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। स्वामीजी ने अपने गांभीर्य, सारल्य, ओजस्विता, सशक्तता और रोचकतायुक्त भावों तथा उनकी अभिव्यक्ति से हिंदी गद्य को समृद्ध-संपन्न बनाया है।

अपने समय के लेखकों से वे अलग थे। उनकी अपनी शैली और अपनी भाषा थी। यह भाषा केवल दयानंद की ही हो सकती थी, किसी और की नहीं। उन्होंने जो भी खट्टे, तीखे और मीठे अनुभव प्राप्त किए, उसी की शक्ति उनकी शैली में आ गई

थी। कहीं वे योद्धा की तरह सिंहनाद करते रहे और कहीं व्यंग्यात्मक शैली में नाक-कान काटते रहे। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

'जब संवत् 1914 के वर्ष में तोपों के मारे मंदिर, मूर्तियाँ अंग्रेज़ों ने उड़ा दी थीं तब मूर्ति कहाँ गई थी ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा। परंतु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता। और वे भागते फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाए उसके शरणागत क्यों न पीटे जाएँ !'

'धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असंभव लीला को जिसने संसार को अभी तक भ्रमा रखा है। भला इन महाझूठ बातों को वे अंधे पोप और बाहर-भीतर की फूटी आँखों वाले उनके चेले सुनते और मानते हैं। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि ये मनुष्य हैं या अन्य कोई ···।'

श्राद्ध-तर्पण का उपहास करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—

'जब जंगल में आग लगती है तब एकदम पिपीलिकादि जीवों के शरीर छूटते हैं। उनको पकड़ने के लिए असंख्य यम के गण आवें तो वहाँ अंधकार हो जाना चाहिए और जब आपस में जीवों को पकड़ने को दौड़ेंगे तब कभी उनके शरीर ठोकर खा जाएँगे तो जैसे पहाड़ के बड़े-बड़े शिखर टूटकर पृथ्वी पर गिरते हैं वैसे उनमें बड़े-बड़े अवयव गरुण-पुराण के बाँचने-सुनने वालों के आँगन में गिर पड़ेंगे तो वे दब मरेंगे या घर का द्वार अथवा सड़क रुक जाएगी तो वे कैसे निकल और चल सकेंगे ? श्राद्ध, तर्पण, पिंड-प्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किंतु मृतकों के प्रतिनिधि पोपजी के उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिए गोदान लेते हैं वह तो पोपजी के घर में पहुँचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती। पुनः (जीव) किसकी पूँछ पकड़कर तरेगा और हाथ तो यहीं जलाया या गाड़ दिया गया, फिर पूँछ को कैसे पकड़ेगा ?'

'मथुरा तीन लोक से न्यारी तो नहीं परंतु उसमें तीन जंतु बड़े लीलाधारी हैं कि जिनके मारे जल, थल और अंतरिक्ष में किसी को सुख मिलना कठिन है। एक चौबे जी—कोई स्नान करने जाए, ये अपना कर लेने को खड़ा रहकर बकते रहते हैं—लाओ भाँग, मर्ची और लड्डू खाए-पिए, यजमान का जय-जय बनाएँ-मनाएँ। दूसरे जल के कछुए—काट ही खाते हैं, जिनके मारे स्नान करना भी कठिन है। तीसरे आकाश के ऊपर लाल रंग के बंदर पगड़ी, टोपी पहने और जूते तक न छोड़ें, काट खाएँ, धक्के दें, गिराकर मार डालें। और ये तीनों पोप और पोपजी के चेलों के पूजनीय हैं।'

जैसा कि मैंने कहा कि उनकी अपनी शैली थी, अपना ही अलग व्यक्तित्व, जो समकालीन साहित्यकारों के साथ बँधा-जुड़ा रहता था। वे अपने समकालीन साहित्यकारों

के प्रति आदर भाव रखते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र और शिवप्रसाद सितारेहिंद की विद्वत्ता के प्रति वे आकर्षित थे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' पर स्वामीजी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रतापनारायणजी के प्रसिद्ध भजन 'पितु मात सहायक स्वामि सखा तुम ही इक नाथ हमारे हो' पर दयानंदजी का गहरा प्रभाव है। भले ही भारतेंदुजी शुरू में स्वामीजी के विरोधी रहे हों, लेकिन बाद में वे उनसे इतने अधिक प्रभावित थे कि जब दूसरी बार स्वामीजी काशी पधारे तो भारतेंदुजी उनका स्वागत करने स्टेशन पर आए थे।

दादाभाई नौरोजी, लोकमान्य तिलक, शहीद रामप्रसाद बिस्मिल और महात्मा गांधी तो स्वामीजी से प्रभावित थे ही, स्वामी श्रद्धानंद, पंडित मदनमोहन मालवीय और प्रेमचंद भी कम प्रभावित नहीं थे। महावीरप्रसाद द्विवेदी की तरह उन्होंने न केवल हिंदी गद्य का सुधार किया बल्कि साहित्य में पवित्रतावादी दृष्टिकोण अपनाकर रीतिकालीन सौंदर्यमय दृष्टिकोण को भी जड़ से उखाड़ फेंका। इस काल के ठीक बाद वाले समय में हिंदी-भाषी क्षेत्र में स्वामीजी के प्रभाव से द्विवेदीयुगीन कविगण नारी के कामिनी रूप से आँखें चुराने लगे थे। रामधारीसिंह 'दिनकर' आगे लिखते हैं कि इस युग के कवियों को शृंगार की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे स्वामी दयानंद पास ही खड़े सब कुछ देख रहे हों। इसी भय से छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले 'जूही की कली' अथवा 'विहंगनियाँ' का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन करने लगे। इसका प्रभाव यह हुआ कि साहित्य में संयमित-मर्यादित दृष्टिकोण पनपने लगा। मैथिलीशरण गुप्त ने भी स्वामीजी से प्रेरणा पाकर अतीत के झरोखों से देखने की कोशिश की।

कभी-कभी वे अपने सहकर्मियों की अशुद्ध भाषा देखकर कह दिया करते—

'भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे'''।'

''''हमने भीमसेन के शोधे गए पुस्तक देखे तो बहुत भूल निकलती है। इससे ज्ञात होता है कि वह बहुत ग़ाफ़िल है।'

'और अब वह भाषा भी अच्छी नहीं बनाता जैसी कि पहले बनाता था। जैसी कि प्रतिदिन उन्नति करनी चाहिए, वह प्रतिदिन गिरता जाता है'''कहीं अपनी ग्रामणी भाषा लिख देता है और 'च' का अर्थ भी 'और' करना चाहिए, वह 'भी' कर देता है।'

इस प्रकार स्वामीजी एक महान् साहित्यकार थे। उन्होंने न केवल प्रांजल भाषा अपितु स्वस्थ-शिष्ट भाव-संस्कार भी प्रदान किए। गद्य, पत्र, जीवनी, विज्ञापन, आलेख और भाषणादि से आपने हिंदी साहित्य को संपन्नता प्रदान की।

एक दृष्टांत कथा

अंधेर नगरी गवर्गंड राजा। टके सेर भाजी टके सेर खाजा

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठाक रहता था। उसकी नगरी का नाम 'प्रकाशवती', राजा का नाम 'धर्मपाल', व्यवस्था का नाम 'यथायोग्य करनेहारी' था। वह तो मर गया, पश्चात् उसका लड़का, जो महाअधर्मी तथा मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठकर सभा से कहा कि 'जो मेरी आज्ञा माने वह मेरे पास रहे और जो न माने वह यहाँ से निकल जाए।' तब बड़े-बड़े धार्मिक सभासद बोले कि 'जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल बर्तते थे, वैसे ही आपको बर्तना चाहिए।' 'उनका काम उनके साथ गया, अब मेरी जैसी इच्छा होगी वैसा करूँगा।' सभा ने कहा, 'जो आप सभा का न करेंगे तो राज्य का नाश अथवा आपका ही नाश हो जाएगा।' राजा—'मेरा तो जब होगा सो होगा, परंतु तुम यहाँ से चले जाओ, नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूँगा।' सभा ने कहा, 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः। चलिए, यहाँ अपना निर्वाह न होगा।' वे चले गए और महामूर्ख, धूर्त, खुशामदी लोगों की मंडली उसके साथ हो गई। राजा ने कहा कि 'आज से मेरा नाम 'गवर्गंड', नगरी का नाम 'अंधेर' और जो मेरा पिता और सभा करती थी उससे मैं सब काम उलटा ही करूँगा। जैसे मेरा पिता और सभासद रात में सोते और दिन में राज्य करते थे वैसे हम लोग दिन में सोवें और रात में राज्य करेंगे। उनके राज्य में सब चीज़ अपने-अपने भाव पर बिकती थी, हमारे राज्य में केसर-कस्तूरी से ले के मिट्टीपर्यंत सब चीज़ एक टके सेर बिकेगी।' जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशांतरों में हुई तब किसी स्थान में दो गुरु-शिष्य वैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते और पाँच-पाँच सेर खाते थे। चेले ने गुरु से कहा कि 'चलिए अंधेर नगरी में, वहाँ दस टकों में दस सेर मलाई आदि माल चाव से खाएँगे।' गुरु ने कहा कि 'वहाँ गवर्गंड के राज्य में कभी न जाना चाहिए। किसी दिन खाया-पीया सब निकल जाएगा।' फिर जब चेले ने हठ किया तब गुरु भी मोह के साथ चला गया। अंधेर नगरी के बगीचे में जाकर विश्राम किया। खूब माल चाबते और कुश्ती करते। इतने में आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हज़ार रुपयों की थैली

ले के किसी साहूकार की दुकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्के आकर रुपयों की थैली छीनकर भागे। उसने जब पुकारा तो थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है ? बात मालूम होने पर सिपाही धीरे-धीरे चल के किसी भले आदमी को पकड़ लाए कि तू ही चोर है। उसने बहुत खुशामद की, पर सिपाही उसे पकड़कर राजा के पास ले गए और कहा कि इसने हज़ार रुपयों की थैली चुरा ली है। वह बेचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ। किसी ने न सुना। झट हुक्म हुआ कि उसे सूली पर चढ़ा दो। सूली मोटी और आदमी पतला था, इसलिए सूली पर न चढ़ सका। नौकरों ने जाकर राजा से कहा। राजा ने कहा कि उसे उतारकर किसी मोटे आदमी को सूली पर चढ़ा दो। सिपाही ने गुरु-चेले को पकड़ा और सूली पर ले गए। बचने का कोई तरीका नहीं था। दोनों ने इशारों में बातें कीं। तब सूली के पास पहुँचे तो दोनों लंगोट बाँध के मिट्टी लगाकर खूब लड़ने लगे।

गुरु ने कहा, 'सूली पर मैं चढ़ूँगा।'

चेले ने कहा, 'मेरे होते तू सूली पर कैसे चढ़ेगा ? यह तो मेरा धर्म है।'

गुरु ने कहा, 'मैं जीते-जी तुझे सूली पर नहीं चढ़ने दूँगा। मेरे पीछे भले ही चढ़ जाना। मुझे सूली पर चढ़ने दे।' और वह सूली पर चढ़ने लगा। सिपाही कामदार तमाशा देखते थे। उन्होंने कहा कि 'तुम सूली पर चढ़ने के लिए क्यों लड़ते हो ?' तब दोनों साधु बोले कि 'हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है।' उधर राजा खुशामदियों से घिरे बैठे थे।

खुशामदी—ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि कभी किसी बात की चिंता न करें, रात-दिन अपने सुख में मगन रहें।

राजा—क्यों जी ! क्या कभी मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे तुल्य सभासद हुए होंगे?

खुशामदी—नहीं जी, कदापि नहीं, न हुआ, न होगा।

राजा—क्या ईश्वर भी हमसे उत्तम होगा ?

खुशामदी—कभी नहीं हो सकता। उसको किसने देखा है ? आप तो साक्षात् ईश्वर हैं।

प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सब सोने चले गए। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के झगड़े की बात कही। राजा सभासद के साथ वहाँ पहुँचा और कहा, 'तुम सूली पर चढ़ने में क्यों सुख मानते हो ?'

साधु—तुम हमसे कुछ मत पूछो, हमें चढ़ने दो।

राजा—सूली पर चढ़ने से क्या फल मिलेगा ?

साधु—जो कोई मनुष्य इस समय में सूली पर चढ़कर प्राण छोड़ देगा, वह

चतुर्भुज होकर विमान में बैठ के आनंदरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा।

राजा—अहो ! ऐसी बात है तो मैं ही चढूँगा, प्राण त्यागूँगा।

ऐसा कहकर राजा सूली पर चढ़ गया और प्राण त्याग दिए।

चेला—अब भाग चलें ?

गुरु—नहीं, पाप की जड़ राजा मर गया। अब धर्म का राज्य होगा और हम यहीं रहेंगे।

उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद और प्रजा में सत्पुरुष जो कि उसके पिता के पश्चात् गवर्गंड ने निकाल दिए थे, वे सब आ के सुनीति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी करके, उस मुर्दे को सूली पर से उतारकर जला दिया और खुशामदियों की मंडली को अत्युग्र दंड दे के कुछ कैद कर दिए और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपांतर में बंदीखाने में डालकर अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या, विज्ञान और सत्य-धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे। जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है तब गवर्गंड के सदृश स्वार्थी, अधर्मी, प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, राज विद्रोही प्रजा भी होती है। और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होने वाला होता है तब सुनीति के समान धार्मिक, विद्वान्, पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेहारी राज सहित सभा और प्रीतियुक्त मंगलकारिणी प्रजा होती है। जो मनुष्य विद्या कम ही जानता हो परंतु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने-पीने, बोलने-सुनने, उठने-बैठने, लेने-देने आदि व्यवहार से युक्त यथायोग्य करता है वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता और जो संपूर्ण विद्या पढ़ के, पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़ के दुष्ट कर्मों को करता है वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के-लड़की, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी और स्वामी-भृत्य आदि को विद्या और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनंद करते रहें।

समाज-सुधारक, इतिहासकार

स्वामीजी ने सबसे पहले भारत को आर्यावर्त कहा और नानाविध अध्ययन करने के पश्चात् कहा। इस देश की गरिमा के सामने और कोई देश टिक नहीं सकता। उन्होंने डंके की चोट से कहा कि यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा कोई देश नहीं है। इसलिए इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। सृष्टि से लेकर पाँच सहस्र वर्षों से पूर्व समय-पर्यंत आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य था। स्वायंभुव राजा से लेकर पांडव-पर्यंत आर्यों का सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। उसके बाद आपसी विरोध से लड़-भिड़कर नष्ट हो गए; क्योंकि परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। ऐसे शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि यह अपनी पूर्व दशा में भी नहीं आ पाया; क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या संदेह है ? इस युद्ध में कुछ योद्धा मर गए और कुछ मारे गए। अविद्वान् गुरु बन गए और उनमें छल-कपट बढ़ता ही गया। ब्राह्मणों ने अपनी जीविका का प्रबंध बाँधने के लिए क्षत्रियों से कहा कि हमीं तुम्हारे पूज्य हैं। जब क्षत्रिय संस्कृत विद्या से विहीन हो गए तब उनके सामने जो-जो गप्प मारी गई सो उन्होंने मान ली।

एकबारगी तो वत्स चकरा गया, क्योंकि उसे यही ज्ञात था कि ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण और क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रिय होता है। स्वामीजी इस धारणा को बहुत पहले ठुकरा चुके थे। पूरी ताकत से अधर्मियों पर प्रहार करते चले जा रहे थे। उन्होंने कहा, 'किसी साधु के शिष्य होने पर भी कोई साधु नहीं हो सकता, अपने गुण, कर्म और स्वभाव से होता है। सुना है कि पोप अपने चेलों को कहा करते थे कि तुम अपने पाप हमारे सामने कहोगे तो हम क्षमा कर देंगे। बिना हमारी सेवा और आज्ञा के कोई स्वर्ग में नहीं जा सकता। जो तुम स्वर्ग में जाना चाहो तो हमारे सामने जितने रुपए जमा करोगे उतने ही की सामग्री तुम्हें स्वर्ग में मिलेगी। ऐसा सुनकर जब कोई आँख का अंधा और गाँठ का पूरा स्वर्ग में जाने की इच्छा करके पोपजी को यथेष्ट रुपया देता था तब वह पोपजी ईसा और मरियम की मूर्ति के सामने खड़ा होकर इस प्रकार की हुंडी लिखकर देता था--'हे खुदावंद ईसामसीह ! अमुक मनुष्य ने तेरे नाम पर लाख

रुपए स्वर्ग में आने के लिए हमारे पास जमा कर दिए हैं। जब वह स्वर्ग में आवे तब तू अपने पिता के स्वर्ग के राज्य में पच्चीस सहस्र रुपयों में बाग़-बगीचा और मकानात, पच्चीस सहस्र में सवारी-शिकारी, नौकर-चाकर, पच्चीस सहस्र में खाना, कपड़ा-लत्ता और पच्चीस सहस्र रुपए इसके इष्ट-मित्र, भाई-बंधु आदि के जियाफ़त के वास्ते दिला देना।' फिर उस हुंडी के नीचे पोपजी अपनी सही करके हुंडी उसके हाथ में देकर कह देते थे कि जब तू मरे तब इस हुंडी को क़ब्र में अपने सिरहाने धर लेने के लिए अपने कुटुंब को कह रखना। फिर तुझे ले जाने के लिए फ़रिश्ते आवेंगे तब तुझे और तेरी हुंडी को स्वर्ग में ले जाकर लिखे प्रमाणे सब चीज़ें तुझको दिला देंगे।' अब जानो स्वर्ग का ठेका पोपजी ने ही ले लिया है।'

'वैसे ही आर्यावर्त देश में भी पोपजी ने अपनी लीला फैलाकर लोगों को ठगा है। राजा और प्रजा को विद्या न पढ़ने देना, अच्छे पुरुषों का संग न होने देना और बहकाने के सिवा दूसरा कोई काम न करने देना। यह बात ध्यान में रखना कि जो-जो छल-कपट आदि कुत्सित व्यवहार करते हैं वे ही पोप कहाते हैं।'

वत्स चुपचाप सुनता रहा था।

'इन्हीं पोपों ने राजाओं के सामने ऐसा भ्रमजाल फैलाकर कहा कि साधुओं-ब्राह्मणों को दंडित नहीं करना चाहिए। राजाओं को ऐसा निश्चय कराया कि वे उनके जाल में फँस गए। फिर वे चोरी-छिपे मांस-मदिरा का सेवन करने लगे। फिर इन्हीं में से एक वाममार्ग खड़ा किया। 'शिव उवाच', 'पार्वत्यानुवाच', 'भैरव उवाच' नाम लिखकर तंत्र-विद्या शुरू की। वेद-विरुद्ध महाअधर्म कामों को इन्होंने धर्म का काम कहा। इन पाखंडियों ने यहाँ तक कह दिया कि रजस्वला के साथ समागम करने से जानो पुष्कर का स्नान, चांडाली से समागम में काशी की यात्रा, कंजरी के साथ लीला करने से अयोध्या तीर्थ, धोबिन के साथ रास रचाने से मथुरा-यात्रा। इन्होंने मद्य का नाम रखा 'तीर्थ', मांस का 'शुद्धि', मछली का 'तृतीया', मुद्रा का 'चतुर्थी' और मैथुन का 'पंचमी'। ऐसे-ऐसे नाम धरे कि दूसरा कोई न समझ सके।'

जब स्वामीजी इन वाममार्गियों की पोल खोल रहे थे तो वत्स आश्चर्यचकित हो रहा था। पर अभी तो स्वामीजी को बहुत कुछ कहना था और वे कहे चले जा रहे थे।

'भैरवी चक्र में वाममार्गी लोग भूमि या पट्टे पर एक बिंदु त्रिकोण, चतुष्कोण, वर्तुलाकार बनाकर, उस पर मद्य का घड़ा रख के उसकी पूजा करते हैं। फिर एक गुप्त स्थान में स्त्री-पुरुष इकट्ठा होते हैं। वहाँ एक स्त्री को नंगी कर पूजते हैं और स्त्री लोग किसी पुरुष को नंगा कर पूजती हैं। किसी की कन्या, बहन, पत्नी मद्य का पात्र और मांस लाती है। आचार्य 'शिवोऽहम्' कहकर उसको पी जाता है। बाद में जूठे पात्र से

सभी पीते हैं। फिर उन्मत्त होकर कुकर्म करते हैं। जो हर प्रकार के कुकर्म करे वही वाममार्गियों में चक्रवर्ती सम्राट् माना जाता है।'

यह सब स्वामीजी ने यूँ ही नहीं कह दिया था। स्थान-स्थान के तीर्थों, मठों, महंतों के पास जाकर देखा था और उसका भंडाफोड़ किया था।

उन्होंने फिर कहा, 'इन पाखंडियों ने ऋषि-मुनियों के नाम से ग्रंथ लिखे और कहा कि पशुओं को मारकर होम करने से पशु और राजा दोनों स्वर्ग को जाते हैं। अरे अक्ल के अंधो ! यदि पशु मारकर अग्नि में होम करने से पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता आदि को मारकर स्वर्ग में क्यों नहीं भेजते ?'

स्वामीजी तब जैन धर्म की ओर मुड़ते हैं। 'बौद्धों के इस अनाचार में जैन धर्म भी शामिल हुआ। कहा जा सकता है कि पोपों के साथ मिलकर बौद्धों और जैनियों ने भी वेद-विरुद्ध भयंकर बातें कहीं।

'सुना जाता है कि गोरखपुर का एक राजा था। उसकी प्रिय रानी का समागम घोड़े से कराया गया और वह मर गई। राजा पुत्र को राज्य सौंप वैरागी बन गया और इन नए पोपों की पोल खोली।'

ऋषियों-मुनियों के नाम से ग्रंथ बनाकर बहुत-से पंडितों ने कुकर्म किए। राजा भोज के राज्य में व्यासजी के नाम से किसी ने मार्कंडेय और शिवपुराण बनाया। जब राजा भोज को पता चला तो उन्होंने उन पंडितों को हस्तछेदन दंड दिया। और उनसे कहा कि जो कोई काव्यादि ग्रंथ बनावे तो अपने नाम से बनावे, ऋषि-मुनियों के नाम से नहीं। उनका मानना था कि यदि ऋषि-मुनियों के नाम से पुराणादि ग्रंथ बनाए जाएँगे तो आर्यावर्तीय लोग भ्रमजाल में पड़कर वैदिक धर्मविहीन हो के भ्रष्ट हो जाएँगे।

जैनियों ने भी यह सोचा कि हमें अपने-अपने अवतार बनाकर उनकी जीवनी लिख ग्रंथों का निर्माण करना चाहिए। इसी तरह वैष्णव मत का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा कहा गया 'देवी भागवत' में कि श्रीपुर की स्वामिनी का नाम है श्री। उसी ने संपूर्ण जगत् को बनाया और ब्रह्मा, विष्णु, महेश की भी सृष्टि की। उनसे कोई पूछे कि उस देवी का शरीर किसने बनाया और उसके माता-पिता कौन थे ? 'देवी भागवत' में देवी की बड़ाई और शिवपुराण में शिव की बड़ाई लिखी है। जो रुद्राक्ष की गुठली-राख धारण करने से मुक्ति मिलती है तो राख में लोटने वाले गधे, सूअर और कुत्तों को मुक्ति क्यों नहीं मिलती ? यदि इन्हें धारण करने से यमराज के दूत डरते हैं तो सिपाही से क्यों नहीं डरते ?

इसी प्रकार जगन्नाथपुरी, ज्वालामुखी, हरिद्वार, उत्तरकाशी आदि पर्वतों-समुद्रों के वासी देवी-देवताओं की पोल खोलना केवल स्वामीजी के ही वश की बात थी।

वत्स ने पूछा, 'मूर्तिपूजा किसने चलाई महाराज ?'

'जैनियों ने।' उत्तर मिला।

'जैनियों ने कैसे बनाई ?'

'मूर्खता से।'

'मूर्तिपूजा तो सनातन से चली आ रही है। फिर यह असत्य क्यों है ?' वत्स के प्रश्नोत्तर में स्वामीजी ने कहा—

'सदा से चला आने वाला सनातन। यदि यह सदा से चला आता होता तो वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों में इसका नाम क्यों नहीं है ? तीर्थों में किसी का पाप-पुण्य नहीं छूटता। ये दोनों ही मनुष्य के साथ-साथ चलते रहते हैं। जब तक मनुष्य स्वयं प्रयत्न नहीं करता, पाप छूट ही नहीं सकते। इसी प्रकार गड़रिए गुरुओं ने भी अपने चेलों को अंधकूप में धकेला है। लोभी, क्रोधी, कामी, लालची गुरु को तत्काल छोड़ देना चाहिए; उसे शिक्षा देनी चाहिए और यदि शिक्षा से न माने तो उसे प्रताड़ित करना चाहिए।'

भागवत के बनाने वाले लाल-बुझक्कड़ों ने मिथ्या बातें लिखीं। उदाहरण के लिए विष्णु की नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा के दाहिने पैर के अँगूठे से स्वायंभुव, बाएँ से शतरूपा राणी, ललाट से रुद्र, मरीचि आदि दस पुत्र, उनसे दस प्रजापति उनकी तेरह लड़कियों का विवाह कश्यप से, उनमें से दिति से दैत्य, दनु से दानव, अदिति से आदित्य, विनता से पक्षी, कद्रू से सर्प, सरमा से कुत्ते-स्याल, अन्य स्त्रियों से हाथी, घोड़े, ऊँट, गधा, भैंसा, घास-फूस और बबूल वृक्ष काँटे सहित उत्पन्न हो गए। स्त्री-पुरुष के रजवीर्य से मनुष्य तो बनते हैं, पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी नहीं उत्पन्न होते। इन महाझूठ बातों को ये अंधे पोप और अंधे चेले सुनते और मानते हैं।

'अरे पोपो ! तुम्हें धर्म से क्या वास्ता ? जिसके पीछे लगो उसे बाप बनाओ, जिसका विरोध करो उसे नौकर बनाओ। तुम तो खुशामदी चारणों से भी गप्पी हो।'

स्वामीजी का आक्रोश उन पुजारियों के प्रति ज़्यादा रहा जिन्होंने आराध्यों को मंदिरों में क़ैद कर दिया।

'मूर्तिपूजा से श्रीरामचंद्र, श्रीकृष्ण, नारायण और शिवादि की निंदा होती है। सब कोई जानते हैं कि वे सभी महाराजाधिराज और सीता, रुक्मिणी, पार्वती आदि महारानियाँ थीं। परंतु जब उनकी मूर्तियाँ मंदिर आदि में रखकर पुजारी लोग उनके नाम से भीख माँगते हैं कि आओ महाराजा राजाजी, सेठ ! साहूकार ! दर्शन दीजिए, बैठिए, चरणामृत लीजिए, कुछ भेंट चढ़ाइए। इनको राजभोग लगाना है। सीता आदि की नथुनी बनवा दीजिए, वस्त्र बनवा दीजिए।'

जो लोग इनका उपहास करते हैं उनको दंड तो मिलेगा।

मूर्तिपूजा के अतिरिक्त स्वामीजी ने तंत्र-मंत्र पर कुठाराघात करते हुए कहा—

'कुछ पंडे मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण प्रयोग करते हैं। जब मारने का प्रयोग करते हैं तब इधर कराने वाले से धन ले के, जिसको मारना है उसका आटे या मिट्टी का पुतला बना के, उसकी छाती, नाभि, कंठ में छुरे प्रवेश कर देते हैं। आँख, हाथ, पग में कीलें ठोंकते हैं। भैरव या दुर्गा की मूर्ति बना मांस का होम करते और कहते हैं कि वह आदमी मर गया है।'

इसी प्रकार स्वामीजी ने शैव, वैष्णव, शाक्त की भी ख़ूब ख़बर ली है। तिलकधारियों को लताड़ते हुए वे कहते हैं—

'हम पूछते हैं कि जब छोटे-से तिलक करने से वैकुंठ में जावें तो सब मुख के ऊपर लेपन करने वा काला मुख करने वा शरीर पर लेपन करने से वैकुंठ से भी आगे सिधार जाते हैं या नहीं ? गाँजा, भाँग, चरस के दम लगाते, लाल नेत्र कर रखते, सबसे चुटकी-चुटकी अन्न-पिसान, कौड़ी-पैसे माँगते, गृहस्थों के लड़कों को बहकाकर चेले बना लेते हैं, न केवल पाषाण-पूजा अपितु पलंग, गद्दी, तकिए, खड़ाऊँ, ज्योति, दीप आदि का पूजन भी स्वामीजी की दृष्टि में कम मूर्खतापूर्ण नहीं है। कबीरपंथी, दादूपंथी, रामसनेही, गोसाँई संप्रदाय को भी स्वामीजी ने अस्वीकार किया है। 'कबीर क्या पुष्प था जो मृत्यु के बाद उसका शरीर फूल बन गया ?'

संसार में धूर्त लोगों की कमी नहीं। ऐसा-ऐसा मायाजाल रचते हैं कि उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान लोग फँस जाते हैं। 'जो कोई यह कहे कि मैं लड़के को जीता रख सकता हूँ, तो आप ही क्यों मर जाता है ?'

एक ओर स्वामीजी ने पाखंड-खंडिनी पताका फहराकर अनेक धर्मों, मतों, मठाधीशों का खंडन किया और दूसरी ओर उन लोगों की भी ख़ूब ख़बर ली जो ब्रिटिश शासकों का यशोगान 'सर' और 'रायबहादुर' का ख़िताब हासिल करने के लिए करते थे। स्वामीजी ने राजा भोज के राजशिल्पियों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन शिल्पियों ने घोड़े के आकार का एक ऐसा यान बनाया जो एक कच्ची घड़ी में ग्यारह कोस और एक घंटे में सत्ताईस कोस जाता था। वह भूमि और अंतरिक्ष में भी चल सकता था। उन्होंने एक ऐसे पंखे का निर्माण किया जो बिना मनुष्य के चलाए कलायंत्र के बल से नित्य चला करता और पुष्कल वायु देता था। जो ये दोनों कलायंत्र आज तक बने रहते तो यूरोपियन इतने अभिमान में न चढ़ जाते। पुष्पक विमान की चर्चा तो मिलती ही है।

कितनी विचित्र बात है कि एक ओर कुछ भारतीय अपने आक़ाओं को ख़ुश करने के लिए अपने ही देश के लोगों का ख़ून बहा रहे थे, जलियाँवाला बाग़ नरसंहार पर मौन साधे बैठे थे और 1857 की क्रांति को 'ग़दर' कह रहे थे और दूसरी ओर

दयानंद सरस्वती जैसे पुरोधा न केवल विदेशियों अपितु भारतीयों की पोप-लीलाओं का पर्दाफाश कर रहे थे। उन्होंने असत्य को असत्य और सत्य को सत्य ही कहा। ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा स्थापित की, शुद्ध चैतन्य को स्वीकारा। वे सभी धर्मों का आदर भी करते थे; पर स्थापना तो उन्होंने आर्यावर्त, आर्यभाषा और आर्य-विचारों की ही की। लंबे अरसे तक आर्य-इतिहास का अध्ययन कर वे एक निष्कर्ष पर पहुँचे और वह निष्कर्ष था—सत्य ही सत्य है। सत्य के प्रकाश को देखना ही होगा।

अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म भी मुक्ति की बात करता है। इस धर्म में मुक्ति या स्वर्ग का जो स्वरूप है वह इस प्रकार है—

'ऊर्ध्वलोक में एक सिद्धशिला स्थान है। वह पैंतालीस लाख योजन लंबी पोली और आठ योजन मोटी है। गोदुग्ध से उजली, स्वर्ण-सी चमचमाती, स्फटिक-से निर्मल। वह सिद्धशिला चौदहवें लोक की शिक्षा पर है और उसमें शिवपुर धाम और धाम में मुक्त पुरुष जन्म-मरण से मुक्त।'

'महावीर को जन्म-समय में एक करोड़ साठ लाख कलशों से स्नान कराया गया। दर्शन के लिए दशाण राजा गया। उसके अभिमान के निवारण के लिए 16,77,72,16000 इंद्र के स्वरूप और 13,37,05,72,80,00,00,000 इंद्राणी आईं।'

'यह कैसी बात हुई कि इंद्र और इंद्राणियों के खड़े रहने के लिए कितने ही भूगोल चाहिए।'

और वत्स ध्यानस्थ हो स्वामीजी की बात सुन रहा था।

जैनियों के अनुसार न तो कुएँ, तालाब बनवाने चाहिए और न ही अन्न भूँजना, कूटना, पीसना और पकाना चाहिए। अन्न-जल के बिना भला कोई प्राणी कैसे जी सकता है ?

'बगीचा लगाने से एक लाख पाप लगता है माली को।'

'चमरी रखना, भिक्षा माँग के खाना, सिर के बाल लुंचित कर देना, श्वेत वस्त्र धारण करना, किसी का संग न करना, मुख पर पट्टी बाँधना धर्म कैसा है ?'

'मुख पर पट्टी न बाँधने से दुर्गंध फैलती है। शाक-पात न खाने से अनंत जीवों की रक्षा होती है। इनके तीर्थंकरों की आयु 90,000 से लेकर कई लाख तक है और शरीर साढ़े तीन सौ धनुष का है। महावीर ने अँगूठे से पृथ्वी दबाई और शेषनाग काँप गया। सर्प के काटने से लहू की जगह दूध निकला। उनके पैर पर खीर पकाई गई और उनका पैर नहीं जला।'

इस तरह की बातें किसी बुद्धिमान व्यक्ति की समझ में नहीं आतीं। कोई महामूर्ख और अंधविश्वासी ही मान सकता है।

'यदि ईश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया तो उसकी स्त्री को धूलि

से क्यों नहीं बनाया ? और नारी को हड्डी से बनाया तो आदम को हड्डी से क्यों नहीं बनाया ? जो आदम की एक पसली निकालकर नारी बनाई तो सभी मनुष्यों की एक पसली कम क्यों नहीं होती ? और स्त्री के शरीर में एक ही पसली होनी चाहिए ? क्योंकि वह एक ही पसली से बनी है। क्या जिस सामग्री से पूरा जगत् बनाया उस सामग्री से स्त्री का शरीर नहीं बन सकता था ?'

वत्स समझ गया था कि स्वामीजी ईसाई मत पर प्रहार कर रहे हैं। स्वामीजी अपनी रौ में बोलते चले जा रहे थे—

'क्या बाइबल में वर्णित ईश्वर की नाक भी है कि जिससे सुगंध सूँघा ? क्या वह मनुष्यवत् अल्पज्ञ नहीं है कि कभी शाप देता है और कभी पछताता है ? प्रथम सबको मार डाला और अब कहता है कि कभी न मारूँगा।'

'यदि ख़तना करना ईश्वर को इष्ट होता तो उस चमड़े को आदि सृष्टि में बनाता ही नहीं और जो यह बनाया गया तो वह रक्षार्थ है, जैसा आँख के ऊपर का चमड़ा। फिर उसने (ईश्वर) अविरहाम से क्यों कहा कि तुम्हारी पीढ़ियों में हर एक आठ दिन के पुरुष का ख़तना किया जाए ? और अब ईसाई लोग ईश्वर की आज्ञा क्यों नहीं मानते ?'

'जिसका ईश्वर बछड़े का मांस खाए तो उसके बछड़े गाय-बछड़े आदि पशुओं को क्यों छोड़ें ?'

'आओ, हम अपने पिता को दारव रस पिलाएँ और उसके साथ शयन करें और पिता से वंश जुगावें।'

जिस धर्म में पिता-पुत्री के दैहिक संबंधों पर कोई आपत्ति न हो तो वह धर्म ही कैसा ? जैसा कि स्वामीजी ने पिता-पुत्री के एकांत में बैठने पर भी घोर आपत्ति जताई है।

अंत्येष्टि पर प्रहार करते हुए स्वामीजी कहते हैं, 'जिससे प्रीति हो उसको जलाना अच्छी बात नहीं। बाइबल के अनुसार।

'यदि मृतक से प्रीति रखते हो तो उसे घर में क्यों नहीं रखते ? और गाड़ते भी क्यों हो ? जिस जीवात्मा से प्रीति थी वह निकल गया ।'

'ईश्वर ने राखिल को स्मरण किया और उसकी कोख खोली। वह गर्भवती हुई।'

क्या ईश्वर भी मनुष्य की तरह रति-संभोग करता है ?

'तब बारह शिष्यों में से एक शिष्य यिहूदा इस्करियीति प्रधान याजकों के पास गया और कहा कि जो मैं यीशु को आप लोगों के हाथ पकड़वाऊँ तो आप लोग मुझे क्या देंगे ? उन्होंने उसे तीस रुपए देने को ठहराया।

'जो बाइबल में ईश्वर लिखा है वह इज़राइल आदि कुलों का स्वामी है या सब संसार का ?'

'ईसाइयों के स्वर्ग में विवाह भी होते हैं, क्योंकि ईसा का विवाह ईश्वर ने वहीं कराया था।'

स्वामीजी का धारा-प्रवाह वाचन वत्स शांत मन से सुन रहा था। शायद और लोगों ने भी सुनी होंगी।

'मुसलमान लोग ऐसा कहते हैं कि यह क़ुरान ख़ुदा का कहा है; परंतु इस वचन से यह विदित होता है कि इसका बनाने वाला कोई दूसरा है, क्योंकि जो परमेश्वर का बनाया होता तो 'आरंभ साथ नाम अल्लाह के' ऐसा न कहता। यदि क़ुरान का ख़ुदा संसार का पालन करने हारा होता तो अन्य मत वाले और पशु आदि को भी मुसलमानों के हाथ से मरवाने का हुक्म न देता। और 'काफ़िरों को क़त्ल करो' न कहता। इसलिए क़ुरान ईश्वरकृत नहीं दीखता। एक शिला पर पत्थर मारने से बारह झरने कैसे निकल सकते हैं ?'

'रोज़े की रात हलाल की गई तुम्हारे लिए कि मदनोत्सव करना अपनी बीवियों से।'

'अल्लाह के मार्ग में लड़ो उनसे जो तुमसे लड़ते हैं। यहाँ तक कि उनसे लड़ो कि कुफ़्र न रहे।'

'जो क़ुरान में ऐसी बातें न होतीं तो इतना बड़ा अपराध जो कि अन्य मत वालों पर किया है, न करते।'

'तुम्हारी बीवियाँ तुम्हारे लिए खेतियाँ हैं। बस जाओ, जिस तरह चाहो अपने खेत में।'

'ऐ ईमानवालो, लड़ाई में लगे रहो।'

ऐसा कौन-सा ईश्वर है जो अपने बंदों में घमासान कराता है ? शैतान तो सबको बहकाने वाला और ख़ुदा शैतान को बहकाने वाला होने से यह सिद्ध होता है कि ख़ुदा शैतान का भी शैतान है।'

'ख़ुदा एक बार उत्पत्ति करता है और फिर दूसरी बार करेगा।'

'ख़ुदा और मुसलमान ग़दर मचाने, सबको दुःख देने और अपना मतलब साधने वाले दयाहीन हैं। वह पक्षपाती हैं जिन्होंने मुहम्मद साहेब को निकाला। ख़ुदा ने उनको मार दिया।

क़ुरान से जो कुछ भी स्पष्ट होता है, उसका अर्थ यह है कि ख़ुदा सातवें आसमान में रहकर भी धरती पर रहने वालों के प्रति अत्यंत क्रूर है। दूसरी बात यह कि यह ग्रंथ ईश्वरकृत न होकर मनुष्यकृत है। तीसरी बात यह कि नारी जाति के प्रति

जो भी विचार प्रगट किए गए हैं वे निंदनीय एवं अशोभनीय हैं।

जो कुछ भी इनमें दिखाई देता है वह असत्य और मिथ्या है।

भ्रमण के दौरान उनके एक भक्त ने स्वामीजी से प्रार्थना की, 'महाराज ! यदि आप शास्त्रों द्वारा मूर्तिपूजा का मंडन करने लग जाएँ तो हम आपको शंकर का अवतार मानने लग जाएँगे।' स्वामीजी ने उत्तर में कहा, 'मुझे विश्वनाथ की पदवी का लालच काशी-नरेश ने भी दिया था; परंतु मैं सांसारिक वासना के वशीभूत होकर सत्य का परित्याग कभी नहीं कर सकता।'

दोपहर के भोजन के अनंतर स्वामीजी अपने विद्यार्थियों, कर्मचारियों को कुछ समय के लिए विश्राम करने की आज्ञा दे देते थे। एक बार एक विद्यार्थी स्वामीजी की ओर पाँव करके सो गया। जब सभी विद्यार्थी उठकर चले गए तो स्वामीजी ने उसे पास बुलाकर कहा, 'प्रत्येक आर्य को आर्य-मर्यादा का पालन करना चाहिए। बिना बुलाए बोलना, बड़ों की बातों में आप ही आप बोलने लग जाना आर्य-मर्यादा के विरुद्ध है। अपने माननीय व्यक्तियों की ओर पीठ करना और पाँव करके सोना भी आर्य-मर्यादा के प्रतिकूल है।' इतना सुनते ही वह विद्यार्थी चरणों पर गिरकर फूट-फूटकर रोने और क्षमा-याचना करने लगा।

विद्यार्थियों को सुधारने का भी उनका अलग तरीका था। उन्होंने एक विद्यार्थी को कुएँ से जल लाने को कहा। जल लाने की बजाय उसने तड़ाक से उत्तर दिया, 'मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा काम पानी ढोना नहीं है।' उसी दिन शाम को स्वामीजी ने सभी विद्यार्थियों को एकत्रित करके कहा, 'जिसके निकट कोई रहता हो और जिससे विद्या ग्रहण करता हो उसके वचन को अवश्य मानना चाहिए। उसकी आज्ञा कदापि भंग नहीं करनी चाहिए।'

तत्पश्चात् स्वामीजी ने उनसे कहा, 'गुरु-सेवा किस प्रकार करनी चाहिए, इस पर मैं आपको आपबीती सुनाता हूँ। जब मैं मथुरा में गुरु विरजानंदजी से शिक्षा ग्रहण कर रहा था तो अपनी स्मरण-शक्ति और विनय के कारण दंडीजी की अपार कृपा का पात्र बन गया था। इसलिए मेरे सहपाठी मुझसे ईर्ष्या करने लग गए। उन्होंने एकता करके गुरुजी से कहा—महाराज ! दयानंद बहुत अविनीत है। वह आपके पास तो अति नम्रता से मीठी बातें करता है, परंतु दूसरे विद्यार्थियों के सामने आपकी नकल करता, आँखें बंद करके आपकी तरह लाठी लेकर चलता और हँसी उड़ाता है।'

'दंडीजी ने कोपावेश में मुझे बहुत कटु वचन कहे और लाठी से इतना मारा कि मेरे घाव हो गए। मैं बिना कुछ कहे रोज़ उनके स्नान के लिए जल भर लाता और लगन से पढ़ता। गुरुदेव पर मेरे मौन का इतना प्रभाव पड़ा कि वे मुझे गले लगाकर फूट-फूटकर रोने लगे। 'दयानंद, दयानंद' के सिवा वे कुछ भी नहीं कह सके। मैं फिर

से उनकी अपार कृपा का पात्र बन गया।'

बहुमुखी प्रतिभा के धनी स्वामीजी शिष्टता-शालीनता-संपन्न थे। न केवल वार्तालाप अपितु पत्राचार में भी वे मर्यादा का विशेष रूप से पालन किया करते थे। यूँ तो मैं दयानंदजी की पत्र-विद्या का उल्लेख कर चुकी हूँ, पर इस संदर्भ में उनके दो पत्रों का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही। एक पत्र महाराज प्रतापसिंहजी के लिए लिखा गया है, दूसरा 'भारत-मित्र' के संपादक महोदय के लिए। एक में शालीनता और स्पष्टता है और दूसरे में प्रखरता। इस अंतर को सहज ही देखा जा सकता है।

ओ३म्

श्रीयुत माननीयवर महाराजे श्री प्रतापसिंहजी,

आनंदित रहो।

यह पत्र बाबा साहब को भी दृष्टिगोचर करा दीजिए।

1. मुझे इस बात का बहुत शोक होता है कि श्रीमान योधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान, आप और बाबा साहब दोनों रोगयुक्त शरीर वाले हैं। अब कहिए इस राज्य का कि जिसमें सोलह लाख से ऊपर मनुष्य बसते हैं, उनकी रक्षा और कल्याण का बड़ा भार आप लोग उठा रहे हैं। सुधार और बिगाड़ भी आप पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर का आरोग्य-संरक्षण और आयु बढ़ाने के काम पर बहुत कम ध्यान देते हैं। यह कितनी बड़ी शोचनीय बात है। मैं चाहता हूँ कि आप लोग अपनी दिनचर्या मुझसे सुनकर सुधार लेवें। जिससे मारवाड़ तो क्या, अपने आर्यावर्त देश-भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध होवें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत कम जन्मते हैं और जन्म के भी बहुत कम चिरंजीवी शतायु होते हैं। इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होता। उत्तम पुरुष जितना अधिक जीवें उतनी ही देश की उन्नति होती है। इस पर ध्यान आप लोगों को अवश्य देना चाहिए। आगे जैसी आप लोगों की इच्छा होवे वैसे कीजिए।

2. आगे जो यह सुना जाता है कि आगामी सोमवार के दिन यहाँ के लालजी आदि की मेरे साथ बातचीत होने वाली है, उसमें आपकी सम्मति है या नहीं ? यदि सम्मति है तो सायंकाल के सात बजे से साढ़े आठ बजे तक सभा में बराबर उपस्थित होंगे या नहीं ? जो आप या बाबा साहब उचित समय सभा में उपस्थित न रहेंगे तो मैं भी इन स्वार्थी व देश के बिगाड़ने वाले पुरुषों के साथ वाद करने के लिए उपस्थित न होऊँगा। कारण यह है कि उनमें सभ्यता की रीति बहुत कम देखने में मिलती है। और पक्षपात भी अधिकतर है। एक आपको छोड़कर अन्य पुरुष भी समय पर सभा

में निष्पक्षपाती होकर सत्य बोलने वाला अब तक मेरी दृष्टि में नहीं आया है। इससे आपका उस सभा में उपस्थित रहना अत्यंत उचित समझता हूँ।

3. यदि सोमवार को शास्त्रार्थ कराने की इच्छा हो तो कल सायंकाल सात बजे से लेकर आठ बजे तक उसके नियम एक दिन पहले अवश्य बन जाने चाहिए कि जिससे दूसरे दिन बराबर शास्त्रार्थ चले। इसलिए लालजी को कल सायं बुलवा लेना चाहिए।

4. इस पोप लीला की निवृत्ति करके यहाँ से अन्यत्र यात्रा करने का मेरा इरादा है। अनुमान है कि बाबा साहब ने आपसे कह भी दिया होगा।

इन उपरिलिखित सब बातों का उत्तर लेखपूर्वक आज सायंकाल तक मेरे पास भिजवा देवें।

मिति आश्विन बदी 3 शनि, सं० 1940

—दयानंद सरस्वती

इस पत्र में स्वामीजी जहाँ शिष्टाचार का निर्वाह करते हैं वहाँ स्वाभिमान की भी रक्षा करते हैं। वे कहीं भी गिड़गिड़ाते दिखाई नहीं देते। वे अपना वर्चस्व बनाए रख राजाजी से पूछते हैं कि वे सभा में बराबर उपस्थित होंगे या नहीं। वे कहीं नहीं लिखते कि कृपया अपनी उपस्थिति से कृतार्थ करें।

ओ३म्

श्रीयुत भारतमित्र संपादक महाशय निकटे निवेदनम्।

महाशय, आपके संवत् 1940 आषाढ़ सुदी 8 गुरुवार के छपे हुए पत्र में किसी ने वेद पर आक्षेप-पत्र छपवाया है। उस लेखक का अभिप्राय यही विदित होता है कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रांत नहीं है। परंतु इस प्रश्न के करने वाले ने प्रश्न मात्र ही किया है, अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिए कोई विशेष हेतु नहीं लिखा है। जैसे कोई कहे कि यह एक हज़ार रुपयों की थैली सच्ची नहीं। दूसरे ने उससे पूछा—क्या मैं तुम्हारे कहने मात्र से थैली को झूठी मान सकता हूँ ? जब तक तुम झूठा रुपया इसमें से एक भी निकाल के सिद्ध नहीं कर देते, तब तक मैं थैली को झूठा नहीं मानूँगा। वैसा ही दोनों महाशयों का आलेख है। यहाँ उनको योग्य था और है कि किसी एक वा अनेक मंत्रों को अपने अभिप्राय के अर्थ सहित वेद, अध्याय, मंत्र संख्यापूर्वक लिखकर पश्चात् कहते कि वेद ईश्वर की वाणी और अभ्रांत नहीं है, तो प्रत्युत्तर के योग्य प्रश्न होता। अब भी यदि उत्तर जानने की इच्छा हो तो इसी प्रकार करें, नहीं तो कुछ भी नहीं है। इसलिए प्रश्नकर्ताओं को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से चारों वेदों में से जो कोई एक मंत्र भी भ्रांत प्रतीत हो वह आपके पत्र में छपवाएँ।

उनका उत्तर भी आपके पत्र में उस समय छपवा दिया जाएगा। और उनको वेद के निर्भ्रांत होने के जानने की पक्की जिज्ञासा हो तो मेरी बनाई 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' को देख लेवें। यदि उनके पास न हो तो वैदिक मंत्रालय, प्रयाग से मँगाकर देखें। और जो उनको आर्य भाषा का पूरा ज्ञान न हो तो किसी सत्यवक्ता दुभाषिये पुरुष से सुनें। इस पर जो उनकी शंका रह जाए तो मुझसे समक्ष मिल के जितनी शंका हो उन सबका यथावत् समाधान लेवें।...मैं ईश्वर नहीं किंतु ईश्वर का उपासक हूँ। परंतु वेद मनुष्यों के हितार्थ परमात्मा ने प्रकाशित किए हैं। इस अभिप्राय से कि जहाँ तक मनुष्य की विद्या और बुद्धि पहुँच सकेगी इतने तक कार्य मनुष्य कर सकेंगे। इसलिए यावत मेरी बुद्धि और विद्या है तावत निष्पक्षपात होकर वेदों का अर्थ प्रकाशित करता हूँ। और वह अर्थ सब सज्जनों के दृष्टिगोचर हुआ है, होता है और होता रहेगा। बड़े शोक की बात है कि आज तक एक भी दोष देवभाष्य में से कोई भी नहीं निकाल सका है। ऐसी निर्मूल शंका कोई भी किया करे, इससे कुछ भी हानि नहीं हो सकती। इनको तो नास्तिक मत प्रिय लगता है। बहुत-से अख़बारों में छपवाते हैं कि एच०ए० करनेल ऑलकाट साहब ने हज़ारों मनुष्यों को रोगरहित किया। यदि यह बात सत्य है तो मुझको क्यों नहीं दिखलाते और मनवाते ?...मैं प्रसिद्धि से कहता हूँ कि यदि उनमें कुछ भी अलौकिक शक्ति या योगविद्या हो तो मुझको दिखलावें। मैंने जहाँ तक इनकी लीला सिद्धि देखी है, वह मानने के योग्य नहीं थी। अब क्या नई विद्या कहीं से सीख आए ? मुझको तो यह विषय निकम्मा आडंबर रूप दीखता है।

मिति श्रावण बदी 4, संवत् 1940

—दयानंद सरस्वती

इस पत्र में जिस ढंग से ऑलकाट महोदय पर अकाट्य तर्कों द्वारा प्रहार किए हैं वे अद्भुत हैं। सब कुछ स्पष्ट और डंके की चोट से निर्भयतापूर्वक कहा गया है। पत्र का प्रथम भाग पुस्तक की प्राप्ति के अतिरिक्त उनकी अनभिज्ञता पर भी प्रहार करता है।

इस प्रकार स्वामीजी एक विख्यात शिक्षाविद्, विद्वान्, दार्शनिक, प्रखर प्रवक्ता, बहुभाषी, प्रतिष्ठित साहित्यकार, हिंदी सेवी, संस्कृतज्ञ, भ्रमणशील और अपनी बात के धनी थे। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के रचनाकार, अद्भुत गुरु और शिष्य थे। इनकी पहचान देश-देशांतरों में हुई। लेकिन खेद की बात है कि न तो इनके साहित्यकार और न ही समाज-सुधारक रूप को उतनी ख्याति मिली जितनी मिलनी चाहिए थी। उनके समकालीनों के गीत तो गाए जाते रहे, लेकिन उनकी ओर किसी इतिहासकार का ध्यान नहीं गया। उन्होंने हिंदी भाषा को गढ़ा, माँजा और चमकाया है।

अपने अल्पकालीन जीवन में स्वामीजी ने देश की जो सेवा की, उसका बखान

शब्दों में नहीं किया जा सकता। जिन पोप लीलाओं और पोंगापंथियों का उन्होंने पुरज़ोर खंडन किया, वही इनकी जान के दुश्मन बन गए। इनके अध्ययन के सामने जब बड़े-बड़े महंत, धर्म और राजनीति के ठेकेदार पत्ते की तरह थर-थर काँपने लगे तो स्वामीजी को कुछ राहत मिली कि उन्होंने देश की जनता के दिलों को छूने की कोशिश की है और भोली-भाली जनता को पाखंड से मुक्ति दिलाने का एक महान् यज्ञ का आयोजन किया। जिसमें अलग-अलग धर्मों के ठेकेदारों को इस महायज्ञ में आहुति के लिए आमंत्रित किया। देश के राजाओं-महाराजाओं से भी विचार-विमर्श किया। लेकिन हमारा रुग्ण समाज उनका पथ्य पचा नहीं पाया। इसलिए उन्हें हलाहल विष देकर उनकी वाणी को हमेशा के लिए मौन कर दिया गया। कई-कई बार उन्हें मारने की कोशिश की गई—कभी नदी में, कभी ज़मीन पर, कभी पान खिलाकर और कभी दूध पिलाकर। मेरी तरह बहुत-से लोगों को यह प्रश्न उद्वेलित कर रहा होगा।

क्या यह विष पोंगापंथियों द्वारा दिया गया ? क्या इसमें किसी बाहरी ताकत का हाथ था ? क्या शासक वर्ग ही इससे मुक्ति चाहता था ? या हमारे राजा-महाराजाओं की विलासप्रियता ही उन्हें मृत्यु की तरफ ले गई ? क्योंकि उनकी वाणी निडर और निष्कपट थी—सोई हुई जातियों के लिए शंखनाद-सी।

क्या यह शंखनाद हमें सुनाई देगा ?

□